ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्री भगवदात्मने नमः

श्री परमपारणामिकभावाय नमः

श्री

पंचलब्धि

(तृतीय संवर्धित संस्करण)

●

लेखक तथा प्रकाशक

ब्रह्मचारी मूलशंकर देशाई

जैन मन्दिर धूलियागंज, आगरा।

विजयादशमी	वीर संवत् २४८३ तारीख ३-१०-१९५७	मूल्य पौने दो रुपया

मुद्रक :
जिनेन्द्र कुमार जैन
जनता प्रेस, आगरा।

हमारे प्रकाशन

१.	भेदज्ञान	२)
२.	पंचलब्धि	१॥।)
३.	तत्त्वार्थसूत्र सटीक	१।)
४.	जिन सिद्धान्त	१)
५.	गुणस्थान	१)
६.	श्री भक्तामर	१)
७.	दृष्टि दोष	॥-)
८.	तत्त्वसार	।=)
९.	जैन सिद्धान्त प्रवेशिका	।-)
१०.	निमित्त	=)
११.	पंचभाव	=)
१२.	गुरु का स्वरूप	=)
१३.	देव का स्वरूप	-)
१४.	शास्त्र का स्वरूप	-)
१५.	योगसार पद्यानुवाद	-)
१६.	आत्मस्मरण	।)
१७.	तत्त्वसार (अँग्रेजी में)	॥।)
१८.	श्री पुरुषार्थ सिद्धोपाय	॥=)

छप रही हैं !

(१) पंचास्तिकायः (२) रत्नत्रय (३) देव भक्ति

अँग्रेजी में अनुवाद :

(१) दृष्टि दोष (२) पंचलब्धि

मिलने का पता :—

दिगम्बर जैन मन्दिर,
धूलियागंज,
आगरा

जैन दर्शन विद्यालय,
चाकसू का चौक,
जयपुर (राजस्थान)

दो शब्द

श्री पंचलब्धि का प्रथम संस्करण सन १६५० में प्रकाशित हुआ था, जब मेरा चातुरमास इन्दौर छावनी में था। पंचलब्धि में चार अनुयोग का वर्णन किया गया है। उनमें चरणानुयोग का वर्णन करते पृष्ठ ३६ में लिखा है—"कि एक सूत मात्र परिग्रह रखने से इस अनुयोग की दृष्टि में गृहस्थावस्था कही जाती है। मुनिलिंग सर्वथ निग्रन्थ ही होता है।" "उसी ग्रन्थ में करणानुयोग का वर्णन करते लिखा है कि— "तीर्थङ्कर परमात्मा जब गृहस्थ अवस्था से उदासीन होते हैं तब उनके परिणाम सप्तम गुण स्थान रूप होते हैं। तब ही लौकान्तिक देव आते हैं उसके पूर्व नहीं आते। ऐसे सप्तम गुणस्थान रूप परिणाम हुए बाद ही वस्त्रादिक का त्याग किया जाता है।" यह बात इसी ग्रन्थ के पृष्ट ४३ पर लिखी है। साथ में आगम की साख भी दी गई है कि—

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोसचइऊणं।
पच्छा दव्वेण मुणि पयंगदि लिंग जिणाणाए ॥७३॥

अर्थ—पहिले मिथ्यात्वादि दोषों को छोड़कर भाव नग्न हो एक रूप शुद्ध आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान, व आचरण करे तत्पश्चात मुनि द्रव्य रूप बाह्य लिङ्ग जिनाज्ञा पूर्वक प्रगट करे ऐसा जैन मुनि का मार्ग है।

इसी ग्रन्थ में वही अनुयोग का वर्णन करते उसी पृष्ट ४३ में लिखा है कि, "यह कथन करणानुयोग की अपेक्षा से है, परन्तु चरणानुयोग की अपेक्षा से जब तक वस्त्रादि का त्याग नहीं किया जाता है अर्थात् द्रव्य से भी निग्रन्थ रूप अवस्था

नहीं होती है तबतक छटवां गुणस्थान हो ही नहीं सकता है।

वही ग्रन्थ में पृष्ठ ४२ पर करणानुयोग का वर्णन करते लिखा है कि—"स्त्री रूप जिसका शरीर है ऐसा आत्मा करणानुयोग की अपेक्षा से सप्तम गुणस्थान तक का निर्मल परिणाम कर सकती है।" इसी अपेक्षा से श्री धवल ग्रन्थ में आचार्य प्रवर भूतवली स्वामी ने ९३ वें सूत्र में लिखा है कि—

सम्मामिच्छाइट्ठि–असंजदसम्माइट्ठि–संजदा संजद–(संजद) ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥

अर्थ—मनुष्य स्त्रियां सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि संयता संयत और संयत गुण स्थान में नियम से पर्याप्तक होती है।

इसी तरह गोमट्टसारादि ग्रन्थों में लिखा है कि "मिथ्यात्व गुणस्थान से आत्मा सीधा चतुर्थ, पंचम और सप्तम गुणस्थान रूप परिणाम कर सकता है। यह कथन करणानुयोग की अपेक्षा से है।"

साथ ही साथ पृष्ठ नंबर ४२ में लिखा है कि "स्त्री को संयत गुणस्थान होता है, यह बात करणानुयोग की अपेक्षा से कही गई है, परन्तु चरणानुयोग की अपेक्षा से स्त्री को पंचम गुणस्थान से आगे का गुणस्थान नहीं हो सकता है।"

इस कथन पर "जैन दर्शन" पत्र के सम्पादक महोदय श्री मखनलाल जी शास्त्री ने समालोचना की थी कि "इस कथन से श्वेताम्बर मत की झलक आती है। एवं वस्त्र सहित सप्तम गुणस्थान का भाव कैसे हो सकता है" इत्यादि।

उनकी समालोचना देखकर हमने तीन चार पृष्ट का लेख प्रतिकार रूप में शास्त्रों के प्रमाण सहित श्रीमान पंडित बंशीधर जी साहब शास्त्री इन्दौर को पढ़ाकर पत्र में प्रकाशित करने के लिये श्री मखनलाल जी शास्त्री महोदय को रजिटरी से भेजा। परन्तु दुःख की बात है कि वह लेख सम्पादक जी श्री मखनलाल जी शास्त्री मोरेना ने प्रकाशित नहीं किया। हमारा तकाजा नियमित चल रहा कि आप हमारा प्रतिकार क्यों नहीं प्रकाशित करते हो? दो महीने के बाद जवाब आया कि लेख आपका गुम हो गया है दूसरा लिखकर भेजियेगा। तब हमने उसी लेख की दूसरी नकल रजिस्टरी से भेज दी। परन्तु दुःख की बात है कि वह लेख भी श्री सम्पादक मखनलालजी शास्त्री ने प्रकाशित नहीं किया। हमारा तकादा चल रहा कि—"आप हमारा लेख प्रकाशित क्यों नहीं करते हैं"। तब उनका जवाब आया कि "अब पत्र देहली से प्रकाशित होता है। आपके लेख की दूसरी नकल भी गुम हो गई है। आप और नकल करके देहली भेज दीजिये।" तब हमने तीसरी नकल उसी लेख की लिखकर साथ में एक रुपया का नोट रजिस्टरी से श्रीमखनलालजी शास्त्री को मोरेना भेज दिया और लिखा कि जिस पत्रमें यह लेख प्रकाशित हो उसी पत्र की आठ कौपी हमको भिजवाने की कृपा करें। परन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि संपादक महोदय श्री मखनबाल जी शास्त्री ने लेख भी प्रकाशित नहीं कराया एवं आज की तारीख तक रुपया भी वापिस नहीं भेजा।" यह दशा हमारे सम्पादक महोदय की है। अस्तु।

श्री पंचलब्धि का दूसरा संवर्धित संस्करण की प्रति २००० सन १९५३ में प्रकाशित हुई। प्रथम संस्करण में पृष्ठ १०७ थे

जब कि दूसरे संस्करण की पृष्ठ संख्या ३०४ थी। समालोचनाथ जैन पत्रकारों को भेजा किसी ने टीका टिप्पणी नहीं की। वही बात इस ग्रन्थ में लिखी साथ में करणानुयोग-द्रव्यानुयोग वाह्य परिग्रह को बाधक नहीं मानता है इस विषय में विशेष रूप शास्त्र पृष्ट १५६ पर दिया कि—

"न हि शालितंदुलस्य बहिरंग तुषे विद्यमाने सत्यभ्यंतर तुषस्य त्याग कर्तुमायाति। अभ्यन्तर तुष त्यागे सति बहिरंग तुष त्यागो नियमेन भवेत्यवे। अनेन न्यायेम सर्व संग परित्याग रूपे बहिरंग द्रव्यलिंगे सति भाव लिंग भवति न भवति वा नियमो नास्ति, अभ्यन्तरे तु भावलिंगे सति सर्व संग परित्याग रूपं द्रव्यलिंग भवत्येवेति। हे भगवान्! भावलिंगे सति बहिरंग द्रव्य लिंग भवतीति नियमो नास्ति "साहारणासाहारणे" त्यादि वचनादिति? परिहारमाह कोऽपि तपोधनो ध्यानारूढ स्तिष्टति तस्य केनापि दुष्ट भावेन वस्त्र वेष्टनं कृतं। आभरणादिकं वा कृतं। तथाप्यसौ निर्ग्रन्थ एव। कस्मात्? इतिचेत। बुद्धिपूर्वकममत्वाभावान पांडवादिवत्॥"

इससे विशेष पुष्टि होती है कि—करणानुयोग द्रव्यानुयोग नो कर्म (वाह्य पदार्थों) को साधक बाधक मानता नहीं है। जिस कारण से "मूर्च्छा परिग्रह" कहा जाता है। अर्थात् जहां मूर्च्छा है वहां ही परिग्रह है। तो भी चरणानुयोग वाह्य पदार्थों को परिग्रह मानता है। यही अनुयोग की विशेषता है।

सन् १६५५ में मेरा चातुरमास गयाजी में हुआ था। जैन समाज ने विशेष रूप में लाभ उठाया, अर्थात् शास्त्र सभा में बहुत सज्जन आते थे। यह बात इसरी आश्रम तक पहुँची

जो मनुष्य श्री वर्णी जी महाराज के प्रवचन में भी नहीं आते थे वह लोग प्रवचन में आते हैं।"

इन दिनों में मेरे द्वारा "तत्वसार" नाम की पुस्तक गया से ही प्रकाशित हुई। उसके पृष्ठ २५ में मिथ्यात्व का वर्णन करते हुए लिखा है कि—"पुण्य भाव में धर्म मानना मिथ्यात्व है, क्योंकि पुण्य भाव कर्म चेतना है और धर्म भाव ज्ञान चेतना है। कर्म चेतना में ज्ञान चेतना मानना मिथ्यत्व है। अरहंत भक्ति में धर्म मानना मिथ्यात्व है, क्योंकि अरहंत भक्ति पुण्य भाव है।"

इस कथन पर विरोध हुआ कि "अरहंत भक्ति को मिथ्यात्व कहते हैं"। विरोधियों ने "अरहंत भक्ति को मिथ्यात्व कहते हैं" ऐसा विरोधकर अरहंत भक्ति में धर्म मानना मिथ्यात्व है" उसमें "धर्म मानना" शब्द उड़ा दिया। "जैन पत्रों में खास तौर से "जैन दर्शन", "जैन गजट" और जैन मित्र' ने इस शब्द पर विरोध शुरू किया। प्रतिकार से जवाब भेजा परन्तु उन पत्रकारों ने जवाब छापा ही नहीं। क्योंकि पत्र के वही स्वामी थे। पत्रकार ने जब हमारा प्रतिकार छापा ही नहीं तब विरोध के प्रतिकार स्वरूप हमने "दृष्टि दोष" नाम की पुस्तक प्रकाशित की।

श्री वर्णी जयन्ती का उत्सव माघ मास में सन् १९५६ में श्री शिखरजी में हुआ वहां हमारा जाना भी हुआ। यहां जैन मित्र के मालिक श्री कापड़िया जी तथा उनके सुपुत्र जी से मुलाकात हुई। हमने कहा "कापड़िया जी साहेब? ब्र० सुमेरचन्द जी ने "तत्वसार" के विषय में विरोध किया तब आपने हमारा प्रतिकार क्यों नहीं प्रकाशित किया?" तब श्री कापड़ियाजी ने जवाब दिया:—

"आपका पत्र लेना हमको इष्ट नहीं था जिससे आपका प्रतिकार प्रकाशित नहीं किया" ? हमने पूछा पत्रकार के नाते क्या यह आपका न्याय है तब उन्होंने कहा न्याय तो नहीं हैं। ऐसी दशा समाज की है।

इस प्रसंग का लाभ लेकर "जैन गजट के सम्पादक महोदय श्री अजितकुमार जी शास्त्री ने "श्री पंचलब्धि का विरोध किया कि" "कपड़ा सहित मुनि पर्याय अर्थात् सातवां गुणस्थान कैसे हो सकता है ? स्त्री का सातवां गुणस्थान कैसे हो सकता है। परन्तु यह कथन करणानुयोग की अपेक्षा से लिखा है यह बात पत्रों में छुपा दी।

महाशय श्री अजितकुमार जी शास्त्री विरोध करते हैं वह स्वयं श्री आचार्य शान्तिसागर हीरक जयन्ती विशेषाङ्क में मुक्ति मार्ग के पथिक शीर्षक लेख में पृष्ठ नं० १६७ में अपरिग्रह महाव्रत का वर्णन करते क्या लिखते हैं सो विचारिये।

संसार के समस्त पदार्थों से ममत्व (अपनापन) भाव न करना अपरिग्रह महाव्रत है।·······असंख्य सुन्दर पदार्थों का समागम रहते हुए भी यदि विवेकी पुरुष उनके मोह से अछूता रहे भरत सम्राट के समान उनसे ममता न जोड़े उनको पर पदार्थ ही समझे तो वे पदार्थ उसके आत्म मनन में कुछ बाधा नहीं डालते उनके संयोग से उसको कुछ हर्ष नहीं हो सकता है, और उनके वियोग से उसके हृदय में कुछ संताप नहीं हो सकता है उस दशा में वह अमित धनरासी भी उस अध्यात्मिक व्यक्ति के लिये परिग्रह नहीं है।

"जिस दिन दरिद्र के पास एक भी पैसा नहीं है किन्तु सेखचल्ली की तरह जो लक्षपति कोटिपति बनने

के हवाई कोट निर्माण किया करता है, उठते, बैठते, सोते जागते सदा जिसके चित में धन संचय की लहरें लहराती रहती हैं वह व्यक्ति अकिंचन होता हुआ भी मानसिक परिग्रह के कारण महा परिग्रही ही है।"

मैं श्रीमान् अजितकुमार शास्त्री जी से नम्रता पूर्वक पूछता हूँ कि यह "महाव्रत परिग्रह" का आपने जो स्वरूप लिखा वह किस अनुयोग की अपेक्षा से है ?

आपने जिस अपेक्षा से लिखा है उसी अपेक्षा से दूसरा जीव लिखे तो विरोध किस बात का है। तो भी विरोध की नौबत बजाते रहना यह क्या ज्ञानी जीवों का स्वरूप है। ऐसी नौबत तो अपनी मान कषाय एवं वैर भाव बिना कैसे हो सकती है।

आप खूब अपनी अज्ञान की नौबत बजाते रहो परन्तु समाज इतनी अब मूर्ख नहीं है। आपकी नौबत बजते रहते समाज ने पंचलब्धि बहुत प्रेम से अपनाई। जिससे उसी का तीसरा संस्करण की २००० प्रति प्रकाशित करानी पड़ी। छद्मस्थ की भूल हो सकती है परन्तु धर्म बुद्धि से यदि दिखाई जाय तो सुधर सकती है। ऐसी कोई भूल इस ग्रन्थ में देखने में आवे तो सूचना करने के लिये नम्र प्रार्थना है।

—ब्र० मूलशंकर देशाई

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२४	१६	दोरिसी	दरिसी
३२	४, १७	मद	मन्द
५३	१५	औपधि	ओषधि
५३	१६	के	से
१०७	१६	कषाय	नोकषाय
१०८	४	,,	,,
१६३	२	उसको	उसको धर्म
२०६	१२	यही मानना	मात्र क्रमबद्ध मानना
२११	५	धनोहारविहारयो	धेनाहारविहारयो
२११	७	तपसोऽनपका	तपसोऽनवका
२११	१६	परिपतः	परिणतः
२११	२१	पछतिशय	पछातिशय
२१२	३	त्यान्	त्वात्
२३२	४	ह	है
२३८	१६	में उस	उसमें
२७७	१३	ह	है
२८४	१२	कर्म	कम
२६१	११	सभ्यक्त्वमोहनीय	सम्यक्त्वमोहनीय
२६३	५	मूलाघात	मूलघात

विषय-सूची

श्री परमात्मने नमः   ॐ   श्री भगवदात्मने नमः

श्री परम पारणामिक भावाय नमः

श्री

पंच-लब्धि

मङ्गलाचरणम्

सर्वव्याप्येक चिद्रूप स्वरुपाय परात्मने ।
स्वोपलब्धि प्रसिद्धाय ज्ञानानन्दात्मने नमः ॥

अन्वयार्थ—सर्वव्यापी (सबका ज्ञाता-दृष्टा) एक चैतन्य रूप (मात्र चैतन्य ही) जिसका स्वरूप है, और जो स्वानुभव प्रसिद्ध है (शुद्ध आत्मानुभव से प्रकृष्टतया सिद्ध है) उस ज्ञानानन्दात्मक (ज्ञान और आनन्दस्वरूप) उत्कृष्ट आत्मा को नमस्कार हो ॥

हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोमं जयत्यदः ।
प्रकाशय ज्जगत्तत्वमनेकान्तमयं महः ॥

अर्थ—जो महा मोह रूपी अंधकार समूह को लीला मात्र में नष्ट कर जगत के स्वरूप को प्रकाशित करता है, ऐसा अनेकांतमय तेज सदा जयवंत हो।

पंचलब्धि का स्वरूप यदि सरल भाषा में लिखा जावे तो वह अनेक जीवों के लाभ का कारण हो सकता है, ऐसा धर्मानुराग होते योग के अनुकूल शास्त्र की रचना होगयी। छद्मस्थ जीवों का कार्य कभी कभी उनके विकल्प के प्रतिकूल भी देखा जाता है। इसी प्रकार इस शास्त्र रचना में भी यदि कोई भूल रह गई हो, और वह यदि किसी विशिष्ट ज्ञानी के लक्ष में आजाये तो उसे सुधार लेने के लिये मेरा नम्र निवेदन है। इतना कहकर मैं परमात्मा को नमस्कार कर पंच लब्धि का स्वरूप आरम्भ करता हूँ।

लब्धि पाँच होती हैं। लब्धि शब्द का अर्थ प्राप्ति है, जीव में पाँच प्रकार के भावों की प्राप्ति होना ही पंच लब्धि है। उन पाँच प्रकार के भावों के नाम इस प्रकार हैं--(१) क्षयोपशमलब्धि (२) विशुद्धि लब्धि (३) देशना लब्धि (४) प्रायोग लब्धि (५) करण लब्धि। जिस समय जीव में करण लब्धि रूप भाव प्रकट होता है उसी समय जीव में नियमानुसार सम्यग्दर्शन रूप की अवस्था प्रकट होती है। करण लब्धि रूप भाव में आत्मा कभी

गिरती नहीं। नियम से उसके भाव बढ़ते-बढ़ते सम्यग्दर्शन रूप अवस्था को प्राप्त होते हैं। तब हमें देखना चाहिये कि आत्मा में इन पाँच प्रकार के भावों में से हममें कितने भावों की प्राप्ति हुई? शेष भावों के लिये आत्मा को पुरुषार्थ करना चाहिये, यही उसका प्रथम कर्तव्य है।

"क्षयोपशम लब्धि"

प्रश्न—क्षयोपशम लब्धि किसे कहते हैं?

उत्तर—जिस शक्ति द्वारा आत्मा अपना अच्छा बुरा, हित अहित, कल्याण अकल्याण तथा सुख दुख का ज्ञान करे उसी शक्ति का नाम क्षयोपशम लब्धि है।

शास्त्रीय भाषा में यह कह सकते हैं कि यदि आत्मा को मनः पर्याप्ति की प्राप्ति हो जावे, दश द्रव्य प्राणों की प्राप्ति हो जावे अथवा यदि वह संज्ञी पंचेन्द्रिय हो तो उसे क्षयोपशम लब्धि की प्राप्ति भी हो गयी है ऐसा जानना चाहिये। ऐसा आत्मा आठ वर्ष की अवस्था हो जाने पर यदि अपना कल्याण मार्ग ग्रहण करना चाहे तो ग्रहण कर सकता है। जैसे धन को भोग में लगावे अथवा दान में यह आत्मा के विचारों पर अवलंबित है। इसी प्रकार इस क्षयोपशम रूप ज्ञान को पाँच इन्द्रिय के विषय

में लगाना कि आत्मा के कल्याण के मार्ग पर लगाना यही आत्मा के वर्तमान पुरुषार्थ पर अवलंबित है। इसमें कर्म का दोष निकालना, मूर्खता है। यह दोष कर्म का नहीं किन्तु आत्मा का ही दोष है। ऐसे ज्ञान की प्राप्ति को ही क्षयोपशम लब्धि कहते हैं।

"विशुद्धि लब्धि"

प्रश्न—विशुद्धि लब्धि किसका नाम है ?

उत्तर—जब आत्मा में शारीरिक दुःख की अवस्था होती है, अथवा जब मरघट (श्मशान) वैराग्य रूप चिन्तवन होता है तब वह विचारता है कि कि जन्म, मरण कैसे हो रहा है ? अमुक जीव को सुखी और दुःखी कौन बनाता है ? अमुक जीव धनी और निर्धन कैसे होता है ? मैं कौन हूँ ? इस संसार में मेरा आना क्यों हुआ है ? किस कार्य से आना हुआ है ? इत्यादि विचार करता है, तब यथार्थ बात बुद्धि में नहीं आने के कारण शास्त्र स्वाध्याय, देव दर्शन करने की भावना होती है। रूढ़ी के अनुकूल वीतराग जिन बिंबका दर्शन भी करने को जाता तो है किंतु फिर भी यथार्थ दर्शन वह कभी भी नहीं करपाता यदि यथार्थ दर्शन उसे एक बार भी हो जाता तो नियम से वह जीव अपने कल्याण के पथ पर आ जाता। परन्तु मात्र

रूढ़ि में फँसा हुआ आत्मा विशेष विचार भी नहीं करता कि इतने वर्ष से देव दर्शन करने एवं भक्ति करने पर भी मेरी आत्मा में शान्ति क्यों नहीं आती है ? देव दर्शन से शान्ति नियम से मिलनो ही चाहिये तो भी रूढ़ि में ही वर्षों व्यतीत कर रहा है। यदि यथार्थ आत्म शान्ति के लिये देव दर्शन एवं भक्ति करता होता तो नियम से जीव विचार करता कि भक्ति करने पर भी शान्ति की गंध भी नहीं आती है इससे मालुम होता है कि नियम से भक्ति में कुछ गलती रह जाती है। ऐसा विचार कर अपनी गलती निकालने की नियम से चेष्टा करता। यदि गलती निकाल कर एक ही बार सच्चे लक्ष्य से देव का दर्शन करता तो जीव मोक्ष के मार्ग पर नियम से आजाता। जैसे—

एक गड़रिया था। वह बहुत सी बकरियाँ एवं भेड़ें रखता था। वह जंगल में ही रहता था। एक दिन जंगल में उसी गड़रिये को एक शेर का बच्चा हाल का जन्मा हुआ मिल गया। उस शेर के बच्चे को उठा कर उस गड़रिये ने अपनी बकरियों तथा भेड़ों की टोली में रख दिया। शेर के बच्चे को अपने का ज्ञान नहीं है "कि मैं कौन हूँ" ? उसने अपना चेहरा तो देखा ही नहीं था परन्तु वह बकरियों का चेहरा देखता था इस कारण से

वह भी मानने लगा कि मैं भी बकरी या भेड़ हूँ। यही मान्यता लेकर वह बकरियों की टोली में रहने लगा। वह बकरियों का दूध भी पीता था उन्हीं के साथ खेलता था, नाचता था, कूदता था। ऐसा करते-करते शेर का बच्चा एक मास का हो गया। एक दिन वह बच्चा प्यास लगने के कारण अचानक नदी के किनारे पर चला गया। उस समय नदी की धारा बहुत शान्त बह रही थी, जल में किसी प्रकार की कल्लोलें नहीं उठ रही थीं। शेर का बच्चा जल पीने लगा। जल पीते-पीते जल में उसने अपना चेहरा देखा। अपना चेहरा देखते ही उसने विचारा कि अरे मेरा चेहरा तो बकरियों जैसा नहीं है। मालूम पड़ता है कि मैं बकरियों की जाति का नहीं हूँ। परन्तु मैं कौन हूँ ? इसका मुझे ज्ञान नहीं है। बच्चा जल पीकर बकरियों के टोल में आ गया। वह बकरियों के साथ रहता तो था परन्तु उसके अंतरंग में एक शंका थी कि मैं बकरी की जाति का नहीं हूँ। ऐसा करते-करते शेर का बच्चा दो मास का हो गया। एक दिन जंगल का बड़ा शेर शिकार के लिये उसी बकरियों के टोल के पास आ गया और उसने सिंहनाद किया। इस शेर की गर्जना को सुनकर सब बकरियाँ भागने लगीं। सब बकरियों को भागते देखकर शेर का बच्चा भी भागने लगा। भागते-भागते

उसने सोचा कि ये सब क्यों भाग रही हैं, समझ में नहीं आता। थोड़ी देर बाद उस बच्चे ने भागते-भागते पीछे की ओर एक बड़ा शेर देखा। देखते ही वह विचारने लगा कि अरे यह तो मेरी जाति का ही है, मैं क्यों भागता हूँ। इतना विचार कर शेर का बच्चा खड़ा रह गया। फिर उसने भी सिंहनाद किया इस बच्चे की आवाज सुन कर बड़े शेर ने विचारा कि अरे यह मेरी जाति का इस टोली में है अब मैं बकरियों का शिकार नहीं कर सकता हूँ यह विचार कर बड़ा शेर चला गया। शेर के बच्चे ने देखा कि बड़ा शेर चला गया है तो उसे मालुम हुआ कि बकरियों के साथ रहना मेरा स्वभाव नहीं है। यह सोच कर शेर का बच्चा भी बकरियों की टोली छोड़ कर उसी दिन जंगल में अपने स्वभाव से एकाकी रहने लगा। यह तो दृष्टान्त है। इसी प्रकार यदि जीव एक बार देव का दर्शन कर विचार करे कि अरे मैं पुद्गल की जाति का नहीं हूँ, मैं चैतन्य स्वभाव का हूँ मेरे स्वभाव अर्थात् मेरी जाति में और देव की जाति में जरा भी फर्क नहीं है। इतना ही एक बार विचार करे तो यह जीव जो अनादि से पुद्गलरूपी ढांचे को अर्थात् शरीर को ही मैं मानकर भूला है; वही जीव नियम से ज्ञान प्राप्त होने से मानने लगेगा कि मैं शरीर नहीं हूँ,

परन्तु ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। जब शरीर को अपना नहीं मानेगा तो वह कैसे मानेगा कि मैं मनुष्य हूँ या मैं स्त्री हूँ या बालक हूँ ? एक बार यथार्थ में अपनी जाति का ज्ञान हो जावे तो जीव जो शरीर को अपना मान कर दुखी हो रहा है वहाँ से उदासीन होकर अपने में ही अपनत्व की बुद्धि पैदा कर अपने कल्याण के पथ पर आ जावेगा। परन्तु इतना विवेक नहीं होने के कारण अल्प मात्र शास्त्र अभ्यास कर दिन व्यतीत कर रहा है। जब जीव में अपने कल्याण करने की तीव्र भावना जागृत होती है तब वह शास्त्र ज्ञान होने से विचार करता है कि मेरा कल्याण नियम से सत्पुरुष द्वारा ही हो सकता है। तब वह जीव सत्पुरुष निःस्पृही निर्ग्रन्थ गुरु को ढूँढ़ने के लिये जंगल में ही निकलेगा क्योंकि शास्त्र ज्ञान के द्वारा इतना उसे मालुम ही है कि निःस्पृही गुरु जंगल में ही रहते हैं। इस प्रकार से आत्मा में ही अपने कल्याण करने के भाव के साथ गुरु के पास जाने का भाव भी हुआ है उसी भाव का नाम विशुद्धि लब्धि है। अब सोचना यह है कि ऐसा भाव मेरी आत्मा में हुआ है या नहीं। यदि नहीं हुआ है तो मानना चाहिये कि अभी मेरी आत्मा में विशुद्धि लब्धि रूप भाव नहीं हुआ है। तब उस भाव को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये।

"देशना लब्धि"

प्रश्न—देशना लब्धि का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—संसार से भयभीत आत्मा आत्म-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपने कल्याण के मार्ग को न जानने से बुद्धि पूर्वक परीक्षा करके श्रीगुरु के चरणों में जाकर बड़ी भक्ति एवं विनय के साथ प्रार्थना करता है कि हे प्रभो ! मेरी आत्मा का कल्याण कैसे हो ? ऐसा मुमुक्षु प्राणी सांसारिक विषय सुख की वांछा नहीं करता है एवं तद्विषयक अर्थात् संसार के पदार्थों की प्राप्ति के लिए एक प्रश्न भी नहीं करता है। धन की प्राप्ति कैसे हो, लड़के की प्राप्ति कैसे हो, मुकद्दमा कैसे जीतूँ, ऐसी वांछा तो उसके है ही नहीं यदि कोई भावना है तो एक मात्र यही भावना है कि मेरी आत्मा का कल्याण कैसे हो ?

उस जीव की ऐसी जिज्ञासा व विनय देख कर श्री सद्गुरु कल्याण का जो मार्ग है वह प्रगट करते हैं अर्थात् दिखाते हैं।

हे भव्य ! कल्याण का मार्ग यह है। आगम द्वारा छह द्रव्य, सप्त तत्व, भाव कर्म, द्रव्य कर्म तथा नोकर्म का यथार्थ स्वरूप समझ लेना ही सर्व प्रथम आत्मा का कर्तव्य है। यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति बिना क्रियाकान्ड में फँस जाना या व्यवहार, तप, नियम, त्याग में फँस जाना

यह मोक्षमार्ग में लेजाने वाला मार्ग नहीं है। क्योंकि ज्ञान किये विना त्याग किसका करोगे? त्याग तो कषाय का करना चाहिये परन्तु अज्ञान में जीव विषय सामग्री का त्याग कर ही अपने को धर्मात्मा मानकर चारों ही गति का पात्र बन जाता है।

शिष्य—हे प्रभो! कृपाकर मुझको छह द्रव्य, सप्त तत्व, आदि का क्या स्वरूप है? समझाइये।

गुरु—पदार्थ का स्वरूप निम्न प्रकार है। तू ध्यान देकर सुन। जिनकी आत्मा में आल्हाद उत्पन्न हुआ है वे बड़ी भक्ति एवं विनय के साथ श्रीगुरु के उपदेशामृत का पान तीव्र जिज्ञासा भाव से करते हैं। जिज्ञासा भाव से उपदेश को सुनकर उस पर विचार कर धारणा में उसी उपदेश को ऐसे रखना जैसे भूले नहीं। ऐसी धारणा रूप आत्मा की अवस्था का नाम देशना लब्धि है। उस देशना लब्धि का स्वरूप निम्न प्रकार से है।

हे भव्य! द्रव्य छः हैं। (१) जीव द्रव्य, (२) पुद्गल द्रव्य, (३) धर्मास्तिकाय द्रव्य, (४) अधर्मास्तिकाय द्रव्य, (५) आकाशास्तिकाय द्रव्य (६) काल द्रव्य।

प्रश्न—हे प्रभो! जीव द्रव्य का क्या स्वरूप है?

उत्तर—जो देखता जानता है, जो सुख दुःख की अवस्था का अनुभव करता है और जो मनुष्य, देव,

तिर्यंच, नारकी की अवस्था धारण करता है उसी का नाम जीव द्रव्य है। जानना देखना जीव का स्वभाव भाव है। सुख दुःख का अनुभव करना यही जीव की विकारी अवस्था है और मनुष्य देव तिर्यंच नारकी आदि की अवस्था धारण करना यही जीव की कर्म जनित संयोगी अवस्था है।

प्रश्न—हे प्रभो ! द्रव्य किसको कहते हैं अर्थात् द्रव्य का क्या लक्षण है ?

उत्तर—द्रव्य का लक्षण तीन प्रकार का है। (१) सत् (२) उत्पाद व्यय और ध्रौव्य (३) गुण पर्याय के समूह को धारण करना।

प्रश्न—सत् किस को कहते हैं या सत् का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—द्रव्य में अस्तित्व नाम का गुण है जो द्रव्य की तीनों काल हयाती या मौजूदगी दिखाता है उसी गुण का नाम सत् है। अर्थात् जिसका तीनों काल में कभी नाश न हो उसी का नाम सत् है।

शंका—द्रव्य का लक्षण सत् हैं उसे जानने से क्या लाभ ?

समाधान—जिस जीव को अपने सत् का ज्ञान है वह जीव कभी भी नहीं कहेगा कि मेरा मरण होता है ?

मेरी रक्षा करो ! इसी सत् के ज्ञान के कारण सम्यग्दृष्टि जीव को सप्त प्रकार का भय नहीं होता है। वह जानता है कि मेरी आत्मा सत् रूप है उसका कभी भी नाश नहीं होता है। और जिस जीव को द्रव्य का ज्ञान नहीं है वह जीव कहेगा कि मेरा नाश होता है। इससे सिद्ध होता है कि सत् का ज्ञान करना जीव के लिये बहुत ही जरूरी है।

प्रश्न—उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्य का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—द्रव्य सत् होते हुए भी उसकी समय-समय में अवस्था बदलती है तो भी वह नित्य रहता है। द्रव्य अपनी मौजूदगी कायम रखकर अपनी एक अवस्था से दूसरी अवस्था धारण करे उसी का नाम उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्य है। जैसे जीव द्रव्य अपनी मनुष्य अवस्था का नाश करे वह तो व्यय है और उसी समय में देव पर्याय की अवस्था को धारण करे उसका नाम उत्पाद है और द्रव्य को दोनों अवस्थाओं में कायम रखे उसका नाम ध्रौव्य है। ऐसे उत्पाद्-व्यय और ध्रौव्य का ज्ञान करने वाले जीव अपनी अवस्था को बदलने में कभी भी दुःखी नहीं होते हैं यही उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्य का ज्ञान करने का फल है।

प्रश्न—गुण पर्याय को धारण करने का क्या स्वरूप है।

उत्तर—आत्मा अपने गुण पर्याय को छोड़कर कभी भी दूसरे द्रव्य के गुण पर्याय को धारण नहीं करता जैसे जो आत्मा में ज्ञान गुण है वही मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवल ज्ञान रूप अवस्था है। इस ज्ञान गुण की कोई सी भी एक अवस्था बिना आत्मा कभी रहती ही नहीं। जिसे अपने गुण पर्याय का ज्ञान है वह आत्मा कभी भी नहीं कहेगा कि मेरे ज्ञान का नाश होता है या मुझे ज्ञान दो ऐसी भावना उस जीव को होती ही नहीं। वह जानता है कि ज्ञान लेने देने की चीज नहीं है। पराया ज्ञान अपने में आता ही नहीं, दूसरे के दुःख और सुख की अवस्था अपने में आती ही नहीं। ऐसे ज्ञान वाला जीव ऐसा नहीं कहेगा कि मुझे बचावो, या कोई मुझे मार सकता है, या कोई जीवन दे सकता है, या मुझे कोई सुखी दुःखी कर सकता है। इस धारणा पर तो जीव अपने आप ही कल्याण कर सकता है। पर का अवलम्बन या पर की आशा नहीं करता है यही स्वाधीन बनने का एक मात्र कारण है। इसलिये गुण पर्याय को धारण करने वाला मैं ही द्रव्य हूँ ऐसा श्रद्धावान जीव ही अपना कल्याण कर सकता है। परन्तु जो जीव गुण पर्याय को धारण करने वाला अपने को द्रव्य नहीं मानता है वही जीव नियम से परावलंबी, पर की खुशामद

करने वाला, पर की भीख मांगने वाला, अज्ञानी मिथ्या-दृष्टि ही रहता है इसी कारण गुण पर्याय को धारण करने वाला द्रव्य ही है ऐसा ज्ञान करना मोक्ष मार्ग में बहुत ही जरूरी है।

प्रश्न—हे भगवन् ! जीव द्रव्य का क्या लक्षण है ?

उत्तर—हे भव्य ! जीव द्रव्य के दो लक्षण हैं—
१ चेतना २ उपयोग।

प्रश्न—प्रभो ! चेतना किसे कहते हैं या चेतना का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—हे भव्य ! चेतना तीन प्रकार की है। (१) कम चेतना (२) कर्म फल चेतना (३) ज्ञान चेतना।

प्रश्न—कर्म चेतना का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—आत्मा में मैं कुछ करूं मैं कुछ करूँ ऐसा जो कर्म करने का भाव है वही कर्म चेतना है। ऐसे भाव से आत्मा में बंध पड़ता है। मैं देव की भक्ति करूँ, मैं उपवास करूँ, मैं व्रत अंगीकार करूं, मैं ब्रह्मचर्य अंगीकार करूं, मैं अनुप्रेक्षा अर्थात् बारह भावना का चिंतवन करूं, मैं महाव्रत अंगीकार करूं, मैं दस प्रकार के मुनि धर्म धारण करूं, मैं बाइस परिषहों को जीतने की शक्ति प्राप्त करूं, मैं पात्र जीवों को दान दूँ यह सब पुण्य भाव रूप कर्म चेतना है, और पांच इन्द्रियों का विषय

इकट्ठा करूं, मैं शादी करूं, मैं अपने बाल बच्चों की रक्षा करूं, ये सब भाव पाप रूप चेतना हैं। इन दोनों प्रकार की चेतनाओं से आत्मा नियम से बंधन में पड़ता है। पुण्य भाव और पाप भाव दोनों बन्धन भाव हैं। अर्थात् आत्मा के स्वभाव का घात करने वाला भाव है।

शंका—प्रभो! पाप भाव से पुण्य भाव तो अच्छा है आपने दोनों भावों को बंधन भाव कैसे कहा?

समाधान—हे शिष्य! पुन्य और पाप भाव का भेद तो एकमात्र अघातिया कर्म में ही पड़ता है परन्तु घातिया कर्म जो आत्मा के स्वभाव का घात करने वाला है वहाँ तो मात्र पाप रूप ही है। घातिया कर्म में पुण्य का भेद नहीं है। जिस भाव से अघातिया कर्म में पुन्य का बंध पड़ता है उसी भाव से घातिया कर्म में नियम से पाप का ही बंध पड़ता है।

शंका—प्रभो! पुन्य भाव से घातिया कर्मों में क्यों पाप का ही बन्ध पड़ता है?

समाधान—हे शिष्य! आत्मा का स्वभाव वीतराग भाव है अर्थात् देखना, जानना है परन्तु राग करना नहीं है। अरहन्त भक्ति राग भाव है। जब आत्मा अपने स्वभाव में से बाहर निकलता है वही आत्मा का घात है, इसी कारण से अरहंत भक्ति के भाव को भी मोक्ष मार्ग

में व्यभिचारी भाव कहा है, क्योंकि उसी भाव से घातिया कर्मों में पाप का ही बन्ध पड़ता है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा में जो करने का भाव होता है वही सब बन्ध का ही भाव है।

प्रश्न—प्रभो! कर्मफल चेतना का क्या स्वरूप है?

उत्तर—हे शिष्य! आत्मा में जो भोगने के भाव होते हैं, उन सभी भावों का नाम कर्म फल चेतना है। वे सभी भाव पाप के ही भाव हैं।

शंका—प्रभो! शुद्ध मर्यादित आहार खाने का भाव कौन सा भाव है।

समाधान—हे शिष्य! शुद्ध आहार खाने का भाव भी पाप भाव है क्योंकि वह भी कर्म फल चेतना है।

शंका—प्रभो! शुद्ध आहार खाने का भाव पापभाव कैसे है, वह तो अच्छा भाव है?

समाधान—हे शिष्य! यह भाव अशुद्ध आहार खाने की अपेक्षा कम पाप का भाव है परन्तु है तो कर्मफल चेतना का भाव। जैसे परदारा भोगने का भाव तो तीव्र पाप भाव है परन्तु स्वदारा भोगने का भाव भी तो पाप भाव है किन्तु स्वदारा भोगने में परदारा भोगने जितनी तीव्र अभिलाषा नहीं होने से उसकी अपेक्षा तीव्र पाप भाव नहीं होते हुए भी पाप का ही भाव है।

शंका—हे प्रभो! स्वदारा भोगने के भाव का नाम

तो "स्वदारा संतोष व्रत" कहा है वह पाप भाव कैसे है ?

समाधान—हे शिष्य ! स्वदारा भोगना यह व्रत नहीं है परन्तु परदारा भोगने के भाव का अभाव हुआ, उस अभाव रूप भाव का नाम व्रत है। परन्तु स्वदारा भोगना यह व्रत नहीं है यह तो अव्रत भाव है अर्थात् पाप भाव ही है।

प्रश्न—ज्ञान चेतना का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—न कर्म करने का भाव हो, न कर्मफल भोगने का भाव हो परन्तु वीतराग भाव कर लोक का ज्ञाता दृष्टा रहे वही ज्ञान चेतना है वही धर्म भाव है और ऐसे ही धर्म भाव से आत्मा सिद्ध पद की प्राप्ति करता है अर्थात् आत्मा परमात्मा बन जाता है।

शंका—प्रभो ! पुन्य भाव को तो शास्त्रों में धर्म भाव भी कहा है ?

समाधान—हे शिष्य ! वहाँ तो व्यवहार से पुन्य भाव को धर्म भाव कहा है। परन्तु व्यवहार का अर्थ इतना ही करना चाहिये कि यथार्थ में यह नहीं है।

शंका—तब यथार्थ में धर्म भाव कौन सा है ?

समाधान—वीतराग भाव का ही नाम धर्म भाव है यही भाव मोक्ष का कारण है।

शंका—प्रभो ! पुन्य भाव को परंपरा मोक्ष का

कारण तो शास्त्रों में कहा है वह किस प्रकार कहा है ?

समाधान—पुन्य भाव को परंपरा मोक्ष का कारण कहा है वहां परंपरा का अर्थ पुन्य भाव छोड़ते-छोड़ते मोक्ष का कारण होगा परन्तु पुन्य भाव करते-करते मोक्ष होगा ऐसा श्रद्धान नहीं करना। कारण दो प्रकार का होता है। (१) सद्भाव कारण (२) अभाव कारण। यहाँ पुन्य भाव का अभाव ही परंपरा मोक्ष का कारण है, ऐसा श्रद्धान करना। परंतु पुन्य भाव का सद्भाव यह मोक्ष का कारण नहीं है परन्तु मोक्ष का घात करने वाला है। जैसे कांदा (प्याज) खाते-खाते अमृत की डकार न आवे परन्तु कांदा छोड़ते-छोड़ते अमृत की डकार आवे अर्थात् पाप भाव छोड़ते-छोड़ते पुन्य भाव होता है उसी प्रकार पुन्य भाव छोड़ते-छोड़ते धर्म भाव होता है। यही ज्ञान सम्यक्ज्ञान है।

प्रश्न—प्रभो ! उपयोग का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—हे शिष्य ! उपयोग दो प्रकार का है। (१) सविकल्प-निर्विकल्प उपयोग (२) शुद्ध-अशुद्धोपयोग।

प्रश्न—सविकल्प उपयोग का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—ज्ञान चेतना का नाम सविकल्प उपयोग है। वह उपयोग पांच प्रकार का है:—(१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्ययज्ञान (५) केवल-

ज्ञान । प्रथम चार ज्ञान का नाम क्षयोपशम ज्ञान है और पांचवां केवलज्ञान का नाम क्षायक ज्ञान है। क्षयोपशम ज्ञान पराधीन ज्ञान है और एक मात्र केवलज्ञान स्वाधीन ज्ञान है।

प्रश्न—निर्विकल्प उपयोग का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—दर्शन चेतना का नाम निर्विकल्प उपयोग है। दर्शन चेतना चार प्रकार की होती है। (१) चक्षु-दर्शन (२) अचक्षुदर्शन (३) अवधिदर्शन (४) केवलदर्शन। आदि के तीन दर्शन क्षयोपशम दर्शन हैं और एक मात्र केवल दर्शन क्षायक दर्शन है। प्रथम के तीन दर्शन या क्षयोपशम दर्शन पराधीन दर्शन हैं अर्थात् इन्द्रिय और मन की सहायता से ही देखते हैं और एक मात्र केवल-दर्शन स्वतन्त्र दर्शन है। इस दर्शन में इन्द्रियों या मन की सहायता की जरूरत नहीं है।

प्रश्न—दर्शन चेतना और ज्ञान चेतना में क्या अंतर या भेद है ?

उत्तर—दर्शन चेतना सामान्य अवलोकन करती है अर्थात् पदार्थ को अखण्ड रूप से ही देखती है और ज्ञान चेतना पदार्थ को गुण गुणी भेदकर एवं गुण पर्याय भेद कर देखती है। यही दोनों में भेद है। ज्ञान चेतना की पूर्व पर्याय का नाम दर्शन चेतना है अर्थात् अवग्रह

ज्ञान को आरम्भ के पूर्व क्षण की पर्याय का नाम दर्शन चेतना है।

शंका—ये दोनों चेतना छद्मस्थ जीवों को एक साथ होती हैं या नहीं?

समाधान—ये दोनों चेतना छद्मस्थ जीवों के एक साथ नहीं होती हैं परन्तु एक चेतना जब कार्य रूप होगी तब दूसरी चेतना लब्धि रूप होगी। दोनों चेतना साथ में कार्य नहीं करती हैं।

शंका—दोनों चेतनाओं का साथ में कार्य न करने का क्या कारण है?

समाधान—दोनों चेतनाएं पराधीन हैं अर्थात् इन्द्रिय और मन की सहायता से देखती हैं जब एक चेतना ने पर इन्द्रियों की सहायता ली है तब पर की सहायता के अभाव के कारण दूसरी चेतना लब्धि रूप रहती है क्योंकि दोनों चेतनाओं के लिये निमित्त कारण एक ही है यद्यपि दोनों में देखने की शक्ति है परन्तु निमित्त के अभाव के कारण दोनों चेतनाएं साथ में कार्य नहीं कर सकती हैं। जैसे दो मनुष्यों को टेलीफोन करना है दोनों में टेलीफोन करने की शक्ति भी है परन्तु टेलीफोन एक ही है। जब एक मनुष्य टेलीफोन करेगा तब दूसरे मनुष्य को टेलीफोन करने की शक्ति होते हुए भी टेलीफोन

नहीं होने के कारण बैठना ही पड़ता है। राह देखनी ही पड़ती है। परन्तु जिस प्रकार दोनों मनुष्य एक ही टेलीफोन में एक साथ काम नहीं कर सकते हैं उसी प्रकार दर्शन चेतना तथा ज्ञान चेतना की देखने की शक्ति होते हुए भी इन्द्रिय रूप निमित्त एक ही होने से जब दर्शन चेतना देखती है तब ज्ञान चेतना राह देखती है अर्थात् लब्धि रूप रहती है और जब ज्ञान चेतना देखती है तब दर्शन चेतना को राह देखनी पड़ती है अर्थात् लब्धि रूप रहती है।

प्रश्न—शुद्धोपयोग का क्या स्वरूप है?

उत्तर—मात्र वीतराग भाव का ही नाम सुद्धोपयोग है यही भाव मोक्ष का कारण है। इसी भाव को धर्म भाव कहते हैं।

प्रश्न—अशुद्धोपयोग भाव किसको कहते हैं?

उत्तर—पुण्य और पाप भाव का नाम अशुद्धोपयोग है। इसी भाव का नाम बन्ध भाव है। यही भाव संसार का कारण है। कहा भी है कि :—

पुन्य पाप जग बीज है, याही तें संसार।
जनम मरण दुःख सुख सहै, भय्या सब संसार।

प्रश्न—प्रभो! जीव कितने प्रकार के हैं?

उत्तर—हे शिष्य! जीव दो प्रकार के कहे जाते हैं। (१) संसारी जीव (२) मुक्त जीव।

प्रश्न—प्रभो! संसारी जीव का क्या स्वरूप है।

उत्तर—जो सदा काल तादात्म संबंध से चैतन्य प्राण से जीता है और संयोग सम्बन्ध से चार प्राण का अर्थात् बल प्राण, इन्द्रिय प्राण, आयु प्राण और श्वासोच्छ्वास प्राण कर जीता है वही जीव है। जो निश्चयनय से अपने चेतना गुण से अभेद एक वस्तु है परन्तु व्यवहारनय से जो दर्शन ज्ञान चारित्र आदि गुणों को धारण करता है वही जीव है। जो आश्रव संवर निर्जरा और मोक्ष इन तत्वों में तादात्म संबंध से भाव कर्मों की सामर्थता से संयुक्त है अर्थात् अपनी निज की परिणति रूप है और संयोग संबंध से जो पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मों की ईश्वरता संयुक्त है इसी कारण जिसको प्रभू भी कहा जाता है। जो तादात्म संबंध से पौद्गलिक कर्मों का निमित्त पाकर जो-जो अपनी विकारी अवस्था होती है उस अवस्था का कर्ता है और संयोग संबंध से अपने अशुद्ध विकारी परिणामों का निमित्त पाकर जो पौद्गलिक ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म उपजते हैं उनका कर्ता है। जो तादात्म संबंध से पौद्गलिक शुभ अशुभ कर्मों के निमित्त से जो अपने सुख दुःख रूप परिणामों का

भोक्ता है, और संयोग संबंध से शुभ अशुभ पौद्गलिक द्रव्य कर्मों के उदय से उत्पन्न जो इष्ट अनिष्ट पौद्गलिक विषय उनका भोक्ता हैं। जो तादात्म संबंध से यद्यपि लोक मात्र असंख्यात प्रदेशी है तो भी संयोग संबंध से अपनी संकोच विस्तार शक्ति से पौद्गलिक नाम कर्म के द्वारा निर्मापित जो लघु दीर्घ शरीर उसके परिमाण ही तिष्टता हैं इस कारण स्वदेह परिमाण है। जो तादात्म संबंध से स्वाभाविक भाव से अमूर्तिक है परंतु संयोग संबंध से पौद्गलिक कर्मों से बंधन होने से मूर्तिक विभाव रूप परिणमता हैं। तादात्म संबंध से पौद्गलिक द्रव्य कर्मों का निमित्त पाय उत्पन्न हुए जो अपने चैतन्य रागादि रूप परिणाम उनकर संयुक्त हैं और संयोग संबंध से अशुद्ध चैतन्य का रागादिक रूप परिणामों का निमित्त पाकर जो ज्ञानावरणादिक पौद्गलिक द्रव्य कर्म हुये उसी से संयोगी अवस्था है। पंचास्तिकाय में कहा भी है कि—

जीवोत्ति हवदि चेदा उपयोग विसेसिदो पहू कत्ता
भोत्ता, य देहमत्तो णवि मुत्तो कर्मसंजुतो ।२३।

प्रश्न—प्रभो ! मुक्तजीव का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—जो ज्ञानावरणादिक अष्ट द्रव्य कर्म तथा

रागादिक भाव कर्मों से सर्व प्रकार से मुक्त हुआ है। अष्ट कर्मों का अभाव होने से जिसने अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य, अव्याबाध, अवगाहना, अगुरुलघुत्व तथा सूक्ष्मत्व पर्यायों की प्राप्ति की है। मोक्ष अवस्था में भी आत्मा के आत्मीय अविनासी भाव प्राण भी हैं उनसे सदा जीवे है उसने समस्त आत्मीय शक्तियों की समर्थता प्रगट की है इस कारण से प्रभुत्व भी कहा जाता है। अपने ही स्वरूप में सदा परिणमन करता है इसी कारण जीव को कर्ता भी कहा जाता है। स्वाधीन सुख के आस्वादन से जीव को भोक्ता भी कहा जाता है। चर्म शरीर अवगाहन से किंचित ऊन पुरुषाकार आत्म प्रदेशों की अवगाहना लिये हुए हैं इसी कारण जीव को देह मात्र भी कहा जाता है। जो लोक के अग्र-भाग पर अपने आत्मीय प्रदेशों से विराजमान है। जो सविकार पराधीन इंद्रिय सुख से रहित अमर्यादित आत्मीय स्वभाविक सुख को भोगता है, यही मुकत जीव का स्वरूप है। पंचास्तिकाय ग्रन्थ में कहा भी है कि—

कम्ममल विप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं

प्रश्न—पुद्गल द्रव्य का क्या स्वरूप है?

उत्तर—जो अणु रूप है। जिसका दूसरा खंड नहीं हो सकता है उसी को शुद्ध पुद्गल परमाणु कहते हैं। जिसमें आदि, मध्य, अन्त का भेद नहीं पड़ता है। जिसमें रूप, गन्ध, रस और स्पर्श नाम के प्रधान चार गुण हैं। जिसमें रूप की, रस की और गन्ध की एक-एक पर्याय होती है और स्पर्श नाम के गुण की शीत-स्निग्ध, शीतरूक्ष, उष्णरूक्ष, उष्णस्निग्ध इन दो युगलों में से एक युगल पर्याय मिलकर एक समय में पाँच पर्याय चार गुण की होती हैं। परमाणु का स्कन्ध रूप होना और स्कन्ध में से अलग परमाणु रूप होजाना यह उसी का स्वभाव होने से उसका नाम पुद्गल है। जिसके स्कन्ध में गलना, बिगड़ना, मिलना, सड़ना भंग होना शब्दरूप अवस्था होना इत्यादि अनेक अवस्था होती है। स्कन्ध अनेक प्रकार के होते हुए भी छः भेदों में उनका समावेश हो जाता है। (१) बादरबादर (२) बादर (३) बादरशूक्ष्म (४) शूक्ष्मबादर (५) शूक्ष्म (६) शूक्ष्मशूक्ष्म। जो स्कन्ध का टुकड़ा होने के बाद मिले नहीं ऐसे पुद्गल स्कन्ध का नाम बादरबादर स्कन्ध है। जैसे पत्थर, लकड़ी, कागज आदि। जो पुद्गल के स्कन्ध अलग-अलग करने के बाद मिल जावें ऐसे पुद्गल स्कन्ध का नाम बादर स्कन्ध है। जैसे प्रवाही पदार्थ जल, तेल, घृत, दूध

आदि। जो पुद्गल स्कन्ध देखने में आवे परन्तु पकड़ा नहीं जावे ऐसा पुद्गल स्कन्ध का नाम बादरशूक्ष्म स्कंध है। जैसे धूप, चांदनी, छाया इत्यादि। जो पुद्गल स्कंध देखने में भी न आवे एवं पकड़ा भी न जावे परन्तु इंद्रियों द्वारा जिसका ज्ञान हो जावे ऐसे पुद्गल स्कन्ध का नाम शूक्ष्मबादर स्कन्ध है जैसे शब्द, हवा, गन्ध इत्यादि। जिस पुद्गल स्कन्ध का ज्ञान भी न होवे परंतु आगम द्वारा प्रसिद्ध है ऐसे पुद्गल स्कंध का नाम शूक्ष्म स्कन्ध है। जैसे कार्माण शरीर इत्यादि। जो पुद्गल स्कन्ध जघन्य परमाणु से स्कन्ध बना है जो आगम ज्ञान से प्रसिद्ध है ऐसे पुद्गल स्कन्ध का नाम शूक्ष्म-शूक्ष्म स्कन्ध है। जैसे दो अणुआदि का बना स्कन्ध। पुद्गल में रूप, रस, गंध, स्पर्श होने से पुद्गल को रूपी कहा जाता है और जिस द्रव्य में यह गुण न पाया जावे उसी का नाम अरूपी द्रव्य है। आँख से देखा जावे उसी का नाम रूपी और आँख से न देखा जावे उसी का नाम अरूपी। ऐसा अरूपी, रूपी का स्वरूप नहीं है। ऐसा पुद्गल द्रव्य लोक में अनन्तानन्त है।

प्रश्न—धर्मास्तिकाय नाम के द्रव्य का क्या स्वरूप है?

उत्तर—जिसमें गति हेतुत्व नामा गुण हो उसी का नाम धर्मास्तिकाय नाम का द्रव्य है। जो द्रव्य स्वयं

निष्कम्प है, निष्क्रिय है परन्तु जीव और पुद्गल दोनों द्रव्यों को चलने में उदासीन रूप से सहायता करता है, जैसे जल मछली को जबरदस्ती से नहीं चलाता परन्तु मछली जल की सहायता बिना चल भी नहीं सकती उसी प्रकार जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य स्वयं चलते हैं, धर्मास्तिकाय द्रव्य उसे जबरदस्ती से नहीं चलाता तो भी जीवद्रव्य, और पुद्गलद्रव्य धर्मास्तिकाय की सहायता बिना चल नहीं सकता यही धर्मास्तिकाय द्रव्य का सहज स्वभाव है। धर्मास्तिकाय द्रव्य अखण्ड एक द्रव्य है।

प्रश्न—अधर्मास्तिकाय नाम के द्रव्य का क्या स्वरूप है?

उत्तर—जिस द्रव्य में प्रधानतया स्थिति हेतुत्व नाम का गुण हो उसीको अधर्मास्तिकाय द्रव्य कहा जाता है। जो जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य को स्थित होने में वाह्य रूप से उदासीन निमित्त है। जैसे धूप के दिन में घूमने वाले को पेड़ की छाया ठहरने में उदासीन रूप से सहायता देती है, परन्तु पेड़ की छाया उसे जबरदस्ती से नहीं ठहराती उसी प्रकार जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य को अधर्मास्तिकाय सहज ठहरने में उदासीन निमित्त है तो भी अधर्मास्तिकाय द्रव्य बिना जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य ठहर नहीं सकते हैं। अधर्मास्तिकाय अखण्ड द्रव्य है।

शंका—लोक में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्य क्यों मानना चाहिये ? ये दोनों कार्य आकाश द्रव्य कर सकता है ऐसा मानने में क्या बाधा आती है।

समाधान—लोक में धर्मास्तिकाय द्रव्य एवं अधर्मास्तिकाय द्रव्य जरूरी हैं। उसके बिना आकाश के दो हिस्से लोकाकाश और अलोकाकाश नहीं होते इस कारण से तो लोकाकाश कहा जाता है। यदि अधर्मास्तिकाय नहीं होता तो जो जीव पुद्गल चलते थे वे चलते ही रहते परन्तु ठहरते नहीं और अधर्मास्तिकाय द्रव्य न होता तो जो पुद्गल और जीव द्रव्य ठहरते वे ठहरते ही रहते चल नहीं सकते थे। इससे सिद्ध होता है कि यह दोनों द्रव्य जरूर हैं।

प्रश्न—आकाशास्तिकाय द्रव्य का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—जिस द्रव्य में प्रधानपने अवगाहनत्व नाम का गुण है उसी द्रव्य का नाम आकाश द्रव्य है। जो सब द्रव्यों को अवगाहना देने में उदासीन निमित्त कारण है। जितने आकाश क्षेत्र में पाँचों द्रव्य रहते हैं इतने आकाश क्षेत्र का नाम लोकाकाश है और जिस आकाश क्षेत्र में और द्रव्य नहीं है उसीको अलोकाकाश कहते हैं यद्यपि आकाश द्रव्य अखंड ही एक द्रव्य है परन्तु निमित्त की अपेक्षा से दो प्रकार कहा जाता है।

प्रश्न—काल द्रव्य का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—जिस द्रव्य में परिवर्तना नाम का प्रधान गुण है उसी द्रव्य को काल द्रव्य कहते हैं। जो द्रव्य सब द्रव्यों की अवस्था बदलने में उदासीन निमित्त है। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर कालाणु नाम का द्रव्य है। कालाणु नाम के द्रव्य असंख्यात हैं।

प्रश्न—हे प्रभो! धर्म द्रव्य व अधर्मद्रव्य जीव और पुद्गल द्रव्यों को ही चलने में और ठहरने में क्यों सहकारी हैं ? अन्य द्रव्यों को क्यों सहकारी नहीं होते हैं ?

उत्तर—हे शिष्य ! छहों द्रव्य में मात्र जीव और पुद्गल द्रव्य ही क्रियावान होते हैं अर्थात् एक स्थान से स्थानान्तर होते हैं बाकी के द्रव्य क्रियावान नहीं हैं। वे यथास्थान स्थित रहते हैं। इसलिये धर्म अधर्म द्रव्य की सहायता की उन्हें आवश्यकता नहीं है।

शंका—प्रभो ! जीव और पुद्गल द्रव्य क्रियावान किस कारण से होते हैं ?

समाधान—जब तक द्रव्य कर्मों का जीव के साथ संयोग संबंध है तब तक जीव द्रव्य क्रियावान रहता है। जब द्रव्य कर्म का अभाव होता है तब जीवद्रव्य अपने स्वभाव में स्थित अर्थात् निष्क्रियत्व हो जाता है। जीव द्रव्य निष्क्रियत्व होने के बाद में क्रियावान कभी नहीं

होता है। पुद्गल द्रव्य काल द्रव्य के निमित्त से क्रियावान होता है परन्तु पुद्गल द्रव्य निष्क्रियत्व कभी नहीं होता है अर्थात् निमित्त पाकर क्रियावान रहता ही है।

प्रश्न—निश्चय और व्यवहारनय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—निश्चय नय दो प्रकार का है। अखंड द्रव्य को अखंड द्रव्य रूप प्रतिपादन करना यही निश्चय नय है और अखण्ड द्रव्य में गुण गुणी एवं गुण पर्याय का भेद पाड़कर कथन करना वह व्यवहार नय है। जिस द्रव्य की जो गुण और पर्याय है वही गुण और पर्याय उसी द्रव्य को कहना यह भी निश्चय नय है और संयोगी परद्रव्य की पर्याय को दूसरे द्रव्य की पर्याय कहना उसका नाम भी व्यवहार नय है। जैसे मतिश्रुतज्ञान और राग द्वेष आदि जीव द्रव्य की कहना वह निश्चय नय है और पाँच इन्द्रियाँ, द्रव्य, मन, शरीर आदि जीव द्रव्य का कहना वह व्यवहार नय है। निश्चय नय और व्यवहार नय दोनों श्रुतज्ञान की पर्याय हैं ?

शिष्य—हे प्रभो ! छह द्रव्य का स्वरूप संक्षेप में मेरी समझ में आगया है इतना ही नहीं परन्तु मेरी धारणा में भी ठीक-ठीक आ गया है। अब कृपाकर सप्त तत्वों का स्वरूप समझाने का कष्ट करें।

गुरु—हे शिष्य ! तत्व सात हैं। (१) जीवतत्व (२) अजीवतत्व (३) आश्रवतत्व (४) बंधतत्व (५) संवर-तत्व (६) निर्जरातत्व (७) मोक्षतत्व। यह सब जीव द्रव्य की ही पर्याय हैं।

शिष्य—हे प्रभो ! जीव तत्व का क्या स्वरूप है ?

गुरु—हे शिष्य ! आत्मा का जो अनादि अनन्त स्वभाव भाव है वही मात्र जीव तत्व है। जीव तत्व का कभी नाश नहीं होता है यदि जीव तत्व का नाश हो जावे तो आत्म द्रव्य का नाश हो जाता है। ज्ञायक स्वभाव ही, चैतन्य पिण्ड ही, ज्ञानघन ही, मात्र जीव तत्व है। जिस जीव तत्व में न गुण गुणी भेद है न गुण पर्याय भेद है ऐसी अखण्ड ज्ञान ज्योति परम पारणामिक भाव जीव तत्व है। वह जीव तत्व कैसा है—

जिसमें काला पीला आदि वर्ण नहीं है, जिसमें सुगन्ध दुर्गन्ध नहीं है, जिसमें खट्टा मीठा रस नहीं है, जिसमें शीतोष्णादि स्पर्श नहीं है, जिसमें औदारिक वैक्रियकादि शरीर नहीं है, जिसमें समचतुरसादि संस्थान नहीं है, जिसमें बज्रवृषभनाराचादि संहनन नहीं है, जिस में प्रीतिरूप राग भाव नहीं है, जिसमें अप्रीतिरूप द्वेष भाव नहीं है, जिसमें यथार्थ तत्व की अप्राप्तिरूप मोह नहीं है, जिसमें मिथ्यात्व कषायादि कारण नहीं है। जिसमें

ज्ञानावरणादि पौद्गलिक द्रव्य कर्म नहीं है, जिसमें पौद्गलिक शरीर नहीं हैं। जिसमें कर्म की शक्ति का अविभाग प्रतिच्छेद का समूह रूप वर्ग नहीं है। जिसमें वर्गों का समूह रूप वर्गणा नहीं है। जिसमें मद तीव्र रस रूप पौद्गलिक कर्मों के समूह क विशिष्ट वर्गों की वर्गणा का स्थान रूप स्पर्द्धक भी नहीं है। जिसमें स्वपर का एकपने का निश्चय आशय होने पर विशुद्ध चैतन्य परिणाम से जिनका जुदा पना लक्षण है ऐसा अध्यात्म स्थान भी नहीं हैं। जिसमें पौद्गलिक कर्म प्रकृतियों का रस रूप अनुभाग स्थान भी नहीं है। जिसमें मन, वचन, काय, रूप पौद्गलिक योग स्थान भी नहीं है। जिसमें पौद्गलिक कर्मों का बन्ध स्थान भी नहीं है। जिसमें पौद्गलिक कर्मों का फल रूप उदय स्थान भी नहीं है। जिसमें गति आदि मार्गणा स्थान भी नहीं है। जिसमें पौद्गलिक कर्मों के साथ में रहने रूप स्थिति बन्ध स्थान भी नहीं है। जिसमें तीव्र कषाय रूप संक्लेश स्थान भी नहीं है। जिसमें मद कषाय रूप विशुद्धि स्थान भी नहीं है। जिसमें चारित्र मोह के उदय के क्रम से निवृत्ति रूप संयम लब्धि स्थान भी नहीं है। जिसमें पर्याप्त अपर्याप्त आदि जीव स्थान भी नहीं है। जिसमें मिथ्यात्वादि गुणस्थान भी नहीं है ऐसा मात्र ज्ञानज्योति,

चैतन्य पिण्ड, परम पारणामिक भाव जीव तत्व है। जो जीव तत्व मात्र निश्चय नय का ही विषय है। जो जीव तत्व मात्र दर्शन चेतना का विषय है, जो जीव तत्व मात्र सम्यग्दर्शन का लक्ष ध्येय है। जीव तत्व वही है कि जिसके लक्ष बिन्दु पर जीव मोक्ष तत्व की उपलब्धि कर सकता है वही जीव तत्व जयवंत हो, जयवंत हो।

वर्णादिक गुणस्थान पर्यन्त भाव जो जो हैं वे जीव द्रव्य की अपेक्षा से जीव के हैं ऐसा कहा जाता है, परन्तु जीव तत्व की अपेक्षा से यह सभी भाव जीव तत्व के नहीं हैं, क्योंकि एक तत्व में दूसरे तत्व का अभाव है, परन्तु जीव द्रव्य में ये सभी भाव हैं क्योंकि द्रव्य का लक्षण शुद्धाशुद्ध पर्याय का पिण्ड कहा गया है।

जीव तत्व है वह चैतन्य है, वह अपने आप अतिशय कर चमत्कार रूप प्रकाशमान है। अनादि है, किसी समय में नया नहीं उत्पन्न होता है। अनन्त है जिसका किसी काल में विनाश नहीं है। अचल है, चैतन्य पने से अन्य रूप (चलाचल) कभी नहीं होता है। स्वसंवेद्य है आप ही कर जाना जाता है और प्रगट है, छिपा नहीं है।

शंका—जीव तत्व और जीव द्रव्य में क्या भेद है?

समाधान—जीव तत्व मात्र ज्ञायक स्वभाव का नाम

है, अर्थात् चैतन्य पिण्ड का नाम है अर्थात् परम पारि-णामिक भाव का नाम जीव तत्व है और जीव द्रव्य उसको कहते हैं जो अनन्त गुण तथा उन गुणों की अनंतानंत शुद्धाशुद्ध पर्याय एवं जीव और पुद्गल की मिश्रित अवस्था का धारण करने वाले का नाम जीव द्रव्य है यह दोनों में भेद है।

प्रश्न—हे प्रभो! अजीव तत्व का क्या स्वरूप है?

उत्तर—जीव द्रव्य के साथ में जो पौद्गलिक संयोगी अवस्था है उसी का नाम अजीव तत्व है। छह पर्याप्ति पौद्गलिक अजीव-तत्व हैं। दश प्राण पौद्गलिक अजीव तत्व हैं। यह जीव तत्व नहीं है। औदारिक, वैक्रियिक आदि शरीर अजीव-तत्व हैं। समचतुरस आदि संस्थान पौद्गलिक अजीव तत्व हैं। वज्रर्षभनाराच आदि संहनन पौद्गलिक अजीव तत्व हैं। रूप, गन्ध, रस और स्पर्श पौद्गलिक अजीव तत्व हैं। ज्ञानावरणादि अष्ट द्रव्य कर्म अजीव तत्व हैं। मन, वचन, काय पौद्गलिक अजीव तत्व हैं। प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध पौद्गलिक अजीव तत्व हैं। पाँच इन्द्रियाँ पौद्गलिक अजीव तत्व हैं। स्वासोच्छ्वास पौद्गलिक अजीव तत्व हैं। इस अजीव तत्व को जीव तत्व मानना मिथ्यात्व भाव है।

अनादि काल से यह जीव, अजीव तत्व को जीव तत्व मानकर दुःखी ही रहा है। यही तो मिथ्यात्व भाव है। आत्मा अरूपी पदार्थ है वह चक्षु इन्द्रिय से देखा नहीं जाता है, और शरीर अजीवतत्व देखने में आता है, इसी कारण जीव इसमें ही अर्थात् अजीवतत्व में ही अपना अस्तित्व मान रहा है। शरीर रूपी अजीवतत्व की खुशामद में ही सारा ही दिन निकाल रहा है। शरीर दुबला हो जावे तो मानता है कि मैं दुबला हो गया, शरीर मोटा होने से मानता है कि मैं मोटा हो गया, जिससे आनन्द मानता है। शरीर का रंग गोरा हो तो मानता है कि मैं सुन्दर हूँ, शरीर का रंग काला होने से मानता है कि मैं काला हूँ। शरीर का चमड़ा लाल रंग में से बदल कर यदि सफेद हो जावे तो मानता है कि मुझे कोढ़ निकला है। यद्यपि कोढ़ में कुछ दर्द नहीं है तो भी मात्र अपनी बनी बनाई कल्पना से मान लेता है कि मैं अच्छा नहीं लगता हूँ। ऐसी-ऐसी मिथ्या मान्यता से जीव महा दुःखी हो रहा है। यही मिथ्या मान्यता ही संसार दुःख की जननी है। मैं साबुन से स्नान करूँ तो शरीर शुद्ध रहे, परन्तु जीव जरा भी विचार करता नहीं है कि सप्तमलीन धातु से भरा हुआ यह शरीर शुद्ध कैसे हो सकेगा? स्नान करके उठते ही भीतर से पसीना आता

है, शरीर सुन्दर कहाँ हुआ ? परन्तु विचार करे कब ? संसार के सुख से मुख मोड़े तब तो विचार करें, क्योंकि संसार का मार्ग और मोक्ष का मार्ग दोनों विपरीत मार्ग हैं। शरीर की चौबीस घन्टे खुशामद करते हुए भी शरीर अपनी एक भी बात मानता नहीं है, तो भी जीव विचारता नहीं है। जैसे काल पाकर बाल आपसे आप काले से सफेद हो जाते हैं। काल पाकर दांत आपसे आप टूट जाते हैं गिर जाते हैं। काल पाकर शरीर का चमड़ा शिथिल होकर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। यह सभी अवस्थाएँ आत्मा चाहता नहीं है और हो जाती हैं तो भी विचार करता नहीं है कि शरीर की सुन्दरता में मेरी सुन्दरता नहीं है, परन्तु आत्मीय गुणों की सुन्दरता से मेरी सुन्दरता है एवं शान्ति है। यह विचार न होने का मूल कारण मिथ्यात्व भाव अर्थात् जीव तत्व को भूल कर अजीव तत्व को अपना अर्थात् अजीव तत्व में अपना अस्तित्व मानना यही संसार की जननी है। इसलिए संसार से मुक्त चाहने वाले जीवों को अजीव-तत्व का ज्ञान करना सर्व प्रथम जरूरी है। अजीव तत्व का ज्ञान नहीं होने से अजीव तत्व की सब क्रिया को अपनी क्रिया मानता है। मैं बोलता हूँ, मैं चलता हूँ, मैं खाता हूँ, इत्यादि जीव और पुद्गल की मिली हुई क्रिया को

अपनी क्रिया मानता है। आत्मा की क्रिया आत्मा के प्रदेशों का हलन चलन होना वही मात्र आत्मा की क्रिया है जिस क्रिया में शरीर मात्र निमित्त है, और शरीर की हलन चलन क्रिया पौद्‌गलिक क्रिया है, वह आत्मा की क्रिया नहीं है, परन्तु पौद्‌गलिक शरीर की क्रिया में जीव तो मात्र निमित्त है। निमित्त नैमित्तिक अवस्था का ज्ञान नहीं होने के कारण जीव की क्रिया को तो जानता ही नहीं है और पौद्‌गलिक शरीर की क्रिया को अपनी क्रिया मानकर दुःखी हो रहा है। शरीर में से समय-समय में अनन्त पुद्‌गल परमाणु निकलते हैं और अनंत आते हैं यह सब क्रिया आत्मा की इच्छा से नहीं होती है सहज होती है तो भी मिथ्यात्व के कारण जीव मानता है कि मैं शरीर को चलाता हूँ, मेरे बिना शरीर चल नही सकता, यह तो मात्र मिथ्या कल्पना है। जब शरीर में लकवा लगता है तब जीव शरीर में तो है तब शरीर को क्यों नहीं चलाता है ? विचार तो कर अब शरीर क्यों नहीं चलता है ? शरीर को चलाना जीव का कार्य नहीं है। संसार अवस्था में तादात्म्य सम्बन्ध से देखा जावे तो जीव उपयोग और योग दो ही कार्य कर सकता है। उपयोग का अर्थ पुण्य-पाप भाव तथा वीतराग भाव और योग का अर्थ आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द अर्थात्

हलन चलन होना ये दो कार्य छोड़कर जीव तीसरा कार्य कभी भी कर नहीं सकता है। ये दोनों ही आत्मा की अवस्था हैं, और यह दोनों अवस्था को जीव की अवस्था मानना सम्यक्ज्ञान है, और शरीर की अवस्था को आत्मा की अवस्था मानना मिथ्या ज्ञान है।

शंका—अजीव तत्व और अजीव द्रव्य में क्या भेद है?

समाधान—जीव द्रव्य के साथ में संयोग सम्बन्ध से पौद्गलिक रचना है उसीका नाम तो अजीव तत्व है क्योंकि संसारी अवस्था में वही जीव द्रव्य की अवस्था हो जाती है जिस अवस्था के साथ में जीव का जन्म मरण का सम्बन्ध है और जिसके साथ जीव का संयोग सम्बन्ध नहीं है ऐसे पौद्गलिक पदार्थ अजीव द्रव्य हैं यह दोनों में भेद है।

आश्रव तत्व—आश्रव दो प्रकार का होता है। १—चेतन आश्रव २—जड़ आश्रव। जिसको शास्त्रीय भाषा में भावाश्रव और द्रव्याश्रव कहते हैं।

चेतनाश्रव—जिस प्रकार आम में रस, रूप, गन्ध और स्पर्श नाम के गुण हैं उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, वीर्य, श्रद्धा, अवगाहना, अव्याबाध, सूक्ष्मत्व अगुरुलघु, निष्क्रियत्व, और योग आदि अनेक गुण हैं। जैसे आम में रस, रूप, गन्ध, स्पर्श

आदि गुण स्वतंत्र परिणमन करते हैं ऐसे ही आत्मा में सब गुण स्वतंत्र परिणमन करते हैं। कोई भी गुण किसी भी गुण के आधीन नहीं है। जैसे स्पर्श गुण की शीत, उष्ण अवस्था बदलती है, ऐसे ही आत्मा के गुणों की अवस्था बदलती है। जब आत्मा पौद्गलिक द्रव्य कर्मों के अधीन होकर अवस्था बदलता है उसी अवस्था का नाम आत्मा की वैभाविक अवस्था है, और जब आत्मा के गुण आत्म द्रव्य के ही आधीन होकर अवस्था धारण करते हैं उसी अवस्था का नाम स्वाभाविक अवस्था है। आत्मा में योग नाम के गुण की भी दो अवस्था होती हैं। जब तक योग नाम का गुण पौद्गलिक द्रव्यकर्म के आधीन अवस्था धारण करता है तब तक उस गुण की कम्पन अवस्था रहती है, इसी कम्पन अवस्था का नाम चेतनाश्रव है और जब योग गुण पौद्गलिक द्रव्य कर्म के आधीनपना छोड़, आत्म द्रव्य के आधीन होकर अवस्था धारण करता है उस समय योग नाम के गुण की अकम्प अवस्था रहती है, उस अकम्प अवस्था का नाम आश्रव रहित शुद्ध स्वाभाविक अवस्था है। योग नाम के गुण की वैभाविक अवस्था (१३) तेरहवें गुण-स्थान के अन्त तक रहती है, अर्थात् आश्रव तेरहवें गुण-स्थान तक रहता है, अर्थात् तेरहवें गुणस्थान तक योग

नाम के गुण की कम्पन रूप अवस्था रहती है और चौदहवें गुणस्थान के पहले समय में योग नाम के गुण की अकम्प रूप अवस्था हो जाती है अर्थात् चौदहवें गुण-स्थान के पहले समय में योग नाम के गुण की शुद्ध स्वाभाविक अवस्था होती है।

आगम में आश्रव के ५७ सत्तावन भेद अर्थात् कारण दिखाये हैं वे आश्रव नहीं हैं परन्तु आश्रव होने में कारण हैं। चेतन आश्रव में जो कारण पड़ते हैं उन्हें निमित्त कहते हैं। जैसे रोटी नियम से आटे की ही बनेगी, परन्तु रोटी बनाने में सिगड़ी, कोयला, अग्नि, बेलन, चकला, जल आदि सामग्री की आवश्यकता पड़ती है इन सबको निमित्त कहते हैं। निमित्त का कोई भी अंश रोटी में नहीं जाता है, रोटी तो नियम से आटे की ही बनेगी तो भी निमित्त बिना बनती नहीं है। ऐसे ही आत्मा के आश्रव होने में पौद्गलिक मन, वचन, काय आदि कारण पड़ते हैं, लेकिन इन सब के कारण में कार्य का उपचार करके निमित्त की अपेक्षा से आश्रव कहा जाता है, परन्तु यथार्थ में वह आश्रव नहीं है, निमित्त को आश्रव कहना वह तो मात्र शाब्दिक व्यवहार है। जैसे व्यवहार में बालक लकड़ी को घोड़ा कहते हैं, परन्तु यथार्थ में लकड़ी घोड़ा नहीं है, यद्यपि लकड़ी को व्यव-

हार में घोड़ा बोला जाता है तो भी ज्ञान यथार्थ ही होता है, उसी प्रकार धर्म मार्ग में उपचार से कहने का व्यवहार है कि, आश्रव बहुत प्रकार का होता है, परन्तु श्रद्धान इतना ही करना कि, आश्रव बहुत प्रकार का नहीं होता है, मात्र एक होता है, जो कि योग नाम के गुण की कम्पन अवस्था है वही आश्रव है।

जड़ाश्रव—लोक में पुद्गल वर्गणा अनेक प्रकार की है, उसमें एक वर्गणा ऐसी है जिसको कार्माण वर्गणा कहते हैं। उस कार्माण वर्गणा का आत्मा के प्रदेशों के समीप कर्म रूप अवस्था बनने को आना उसी का नाम जड़ आश्रव है।

बन्धतत्व—बन्धतत्व दो प्रकार का है। (१) चेतन-बन्ध (२) जड़ बन्ध, जिसको शास्त्रीय भाषा में भावबन्ध और द्रव्य बन्ध कहते हैं।

चेतनबन्ध—आत्मा में अनंत गुण हैं तो भी आत्मा के श्रद्धागुण चारित्रगुण और क्रिया गुण की विकारी अवस्था का नाम चेतन बन्ध है। श्रद्धागुण की विकारी अवस्था का नाम मिथ्यात्व है। चारित्र-गुण की विकारी अवस्था का नाम कषाय है और क्रिया-गुण की विकारी अवस्था का नाम क्षेत्रान्तर (गमन) है, इन तीन गुणों की विकारी अवस्था का नाम बंध है।

मिथ्यात्व--मिथ्यात्व का सेवन यह जीव अनादि काल से कर रहा है। मिथ्यात्व का सेवन करने के पाँच कारण प्रधान हैं। (१) एकान्त मिथ्यात्व (२) अज्ञान मिथ्यात्व (३) विपरीत मिथ्यात्व (४) विनयिक मिथ्यात्व (५) संशय मिथ्यात्व ।

प्रश्न—एकान्त मिथ्यात्व का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—एकान्त मिथ्यात्व में जीव पदार्थ को सत् असत्, एक अनेक, नित्य अनित्य इत्यादि एकांत मान्यता से जीव मिथ्या दृष्टि रहता है क्योंकि पदार्थ का अनेकांत अर्थात् अनंत धर्मात्मक है इसका उसे ज्ञान नहीं है।

प्रश्न—अज्ञान मिथ्यात्व का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—अज्ञान मिथ्यात्व में नित्यानित्य विकल्पों से विचारने पर जीवाजीवादि पदार्थ नहीं हैं, अतएव सब अज्ञान ही हैं ज्ञान नहीं है ऐसे अभिप्राय का नाम अज्ञान मिथ्यात्व है।

प्रश्न—विपरीत मिथ्यात्व का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—विपरीत मिथ्यात्व में हिंसा, जुआ, चौर्य, मैथुन, परिग्रह, राग-द्वेष, मोह-अज्ञान इनसे ही मुक्ति होती है, ऐसी मान्यता का नाम विपरीत मिथ्यात्व है।

प्रश्न—विनयिक मिथ्यात्व का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—विनयिक मिथ्यात्व में लौकिक तथा

पारलौकिक सुख सभी विनय से ही प्राप्त होते हैं न कि ज्ञानदर्शन, चारित्र, उपवास आदि क्लेशों से। ऐसी मान्यता का नाम विनयिक मिथ्यात्व है। विनयिक मिथ्यात्व में जीव राग में राग करता है, पत्थर मात्र को देव मानता है परन्तु गुण में भक्ति नहीं करता है।

प्रश्न—संशय मिथ्यात्व का क्या स्वरूप है?

उत्तर—संशय मिथ्यात्व में सर्वत्र ही संदेह है, निश्चय नहीं है ऐसी मान्यता का नाम संशय मिथ्यात्व है।

पुन्य भाव में धर्म बुद्धि करना यह मिथ्यात्व है। अनादि काल से यह जीव पुन्य भाव में ही धर्म मान रहा है। पुन्य भाव जो बन्धन का ही कारण है उस भाव से धर्म की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कैसे मिल सकती है। जैसे कांदा (प्याज) खाते खाते अमृत की डकार चाहता है, वह कैसे मिल सकती है? कभी भी नहीं मिल सकती है। भक्ति भाव पुन्य भाव है ऐसे भक्ति भाव से मोक्ष की कल्पना करना मिथ्यात्व ही है। पुन्य को धर्म कहना व्यवहार है, परन्तु पुन्य को धर्म मानना मिथ्यात्व है।

शंका—पुन्य भाव की परम्परा मोक्ष का कारण तो शास्त्र में माना है!

समाधान—पुन्य भाव की परम्परा मोक्ष का कारण कहा है इसका आप परमार्थ अर्थ नहीं समझे हो।

शंका—इसका परमार्थ अर्थ क्या है ?

समाधान—जैसे पाप छोड़ते छोड़ते पुन्य भाव होता है, ऐसे ही पुन्य भाव छोड़ते-छोड़ते धर्म भाव होता है, परंतु पुन्य भाव करते-करते धर्म भाव होता नहीं ऐसे परंपरा का अर्थ करना चाहिए। कारण दो प्रकार का होता है। (१) सद्भाव कारण (२) अभाव कारण। जैसे ज्वर का सद्भाव वह निरोगता का कारण नहीं है, परन्तु ज्वर का अभाव निरोगता का कारण है, इसी प्रकार पुन्य भाव रूप ज्वर निरोगता रूप मोक्ष का कारण नहीं है, परन्तु पुन्य भाव रूप ज्वर का अभाव मोक्ष का कारण है।

पौद्गलिक द्रव्य कर्म के फल में मिली हुई देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी रूप संयोगी पर्याय को यह आत्मा अज्ञान के कारण अपनी अवस्था मान रहा है यही मिथ्यात्व भाव है। मैं बालक हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं देव हूँ, मैं देवांगना हूँ, मैं तिर्यंच हूँ, मैं नारकी हूँ इत्यादि जो जो पौद्गलिक संयोगी अवस्था मिली है, इसी को अपनी मान रहा है परन्तु मैं ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ, मैं मनुष्यादि नहीं हूँ ऐसी मान्यता होती ही नहीं हैं। इसी कारण शराबी पागल मनुष्य के

माफिक बोलता है कि मैं दुबला हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ इत्यादि मान कर दुखी होता है यही मिथ्यात्व भाव है इसी का नाम पर्याय मूढ जीव है।

मैं पर जीव को मार सकता हूँ, मैं पर जीव को बचा सकता हूँ, मैं पर जीव को सुखी दुःखी कर सकता हूँ, एवं पर जीव मुझको मार सकता है, पर जीव मुझ को बचा सकता है, पर जीव मुझको सुखी दुःखी कर सकता है इस प्रकार जो जो विकल्प करता है वे मिथ्यात्व भाव हैं, क्योंकि सब जीव अपने आयु कर्म के नाश से मरते हैं, सब जीव अपनी आयु कर्म के उदय से ही जीवित रहते हैं। कोई भी जीव किसी भी जीव को आयु नहीं दे सकता है। कोई भी जीव किसी भी जीव की आयु नहीं लूट सकता है। आयु पूरी हो जावे तो तीर्थंकर देव में भी शक्ति नहीं है कि पर जीव को बचा सके। यदि जीव की आयु बाकी है तो इन्द्र की ताकत नहीं है कि वह पर जीव को मार सके। इसी प्रकार सब जीवों को सुख या दुःख का संयोग अपने-अपने साता असाता कर्म के उदय से ही मिलता है। पाप के उदय आने से चाहे जितनी संभाल रखे तो भी बाह्य सामग्री का नियम से वियोग होगा और पुन्य के उदय होने से ही बाह्य सामग्री मिल सकती है इस प्रकार की श्रद्धा न होने के कारण जीव मिथ्यादृष्टि बना रहता है।

देव मेरा कल्याण कर सकता है। गुरु की कृपा हो जावे तो मेरा कल्याण हो जावे यह सब मिथ्यात्व भाव हैं। देव गुरु कोई भी पर जीवों का कल्याण नहीं कर सकता है, तो भी सत्य देव गुरु और धर्म की श्रद्धा किये बिना कल्याण होता भी नहीं है। अपना कल्याण तो अपने से ही होता है, पर जीव अपना कल्याण कर देवे ऐसी धारणा मिथ्यात्व की ही है। महावीर धन देता है, पुत्रादि देता है इस भावना से महावीर जी जाना यह सब मिथ्यात्व भाव हैं। शिखर जी से अनन्त जीव मुक्ति में पधारे हैं इसी कारण शिखरजी का कंकर-कंकर पवित्र है ऐसी भावना मिथ्यात्व की है। शिखरजी पूज्य नहीं है वह तो पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय जीव है वह कैसे पूज्य हो सकता है, परन्तु शिखरजी से जो मुनि महाराज मोक्ष पधारे हैं उन मुनि महाराजों के गुणों की पूजा की जाती है जिसका मात्र आरोप शिखरजी में उपचार से दिया जाता है। जैसे समवशरण में श्री तीर्थंकर देव विराजमान हैं इसी कारण समवशरण की महिमा है, परन्तु तीर्थंकर देव बिना मात्र समवशरण की महिमा नहीं है। ऐसा समवशरण तो देव भी माया से बना सकता है। तीर्थंकर देव की महिमा न आवे और मात्र समवशरण की महिमा मानना मिथ्यात्व भाव है। तीर्थंकर देव

के गुणों की जय ध्यान में न आवे और मात्र समवशरण की जय बोलना वह तो मिथ्यात्व भाव है। हलवे की कढ़ाई की महिमा नहीं है महिमा तो कढ़ाई में जो हलवा है उसी की है। परन्तु कढ़ाई की महिमा आती है वह मिथ्यात्व भाव है। देव गुरु शास्त्र हमारा कल्याण कभी भी नहीं कर सकते हैं। श्री जिनेन्द्र देव का तो फरमान है कि मेरी सेवा करना छोड़ कर जो मार्ग दिखाया है उस पर चलो। परन्तु हम स्वयं उसी मोक्ष मार्ग पर चलें नहीं तो जिनेन्द्र देवों में भी शक्ति नहीं है कि वह पर जीवों का कल्याण कर सके ऐसी धारणा न होवे तब तक जीव मिथ्यादृष्टि ही है।

पर पदार्थ को अच्छा बुरा मानना मिथ्यात्व भाव है क्योंकि संसार के कोई पदार्थ अच्छे बुरे नहीं है, मात्र जीव अपनी निज की बनाई हुई कल्पना से पर पदार्थ में अच्छे बुरे की कल्पना कर दुःखी हो रहा है। जिस पदार्थ को आज अच्छा मानते हो उसी पदार्थ को जीव कल खराब मानता है। जिस विष्टा को आप खराब मानते हैं उसी विष्टा को सूकर प्रेम से खाता है। जिस गाली को आप खराब मानते हैं, उस गाली को सुसराल में आप प्रेम से सुनते हो। जिस देव की मूर्ति को आप अच्छी मानते हो उसी मूर्ति का अन्य जीव खण्डन करता

है, इससे सिद्ध हुआ कि संसार में कोई भी पदार्थ अच्छा बुरा नहीं है तो भी जीव इसमें अच्छे बुरे की कल्पना करता है यही सब मिथ्यात्व भाव हैं।

कषाय—आत्मा को कसे उसी का नाम कषाय है। अर्थात् आत्मा को दुख में डाले उसी का नाम कषाय है। कषाय के भेद असंख्यात लोक प्रमाण हैं तो भी उसी को १३ तेरह भेद में गर्भित किया गया है। (१) क्रोध (२) मान (३) माया (४) लोभ (५) हास्य (६) रति (७) अरति (८) भय (९) शोक (१०) जुगप्सा (ग्लानि) (११) स्त्री के साथ रमण करने का भाव जिसको पुरुष वेद कहते हैं (१२) स्त्री वेद (पुरुष के साथ रमण करने का भाव)। (१३) नपुंसक वेद (स्त्री पुरुष दोनों का साथ रमण करने का भाव) इस प्रकार तेरह प्रकार की कषाय हैं। यह सब भाव आत्मा को दुख देने वाले हैं। इन्हीं भावों का त्याग करना उसी का नाम प्रत्याख्यान है। कषाय चार प्रकार की कही जाती हैं। (१) अनन्तानुबंधी कषाय (२) अप्रत्याख्यान कषाय (३) प्रत्याख्यान कषाय (४) संज्वलन कषाय। तीव्र कषाय का नाम अनन्तानुबंधी, मन्द कषाय का नाम अप्रत्याख्यान, मंदतर कषाय का नाम प्रत्याख्यान और मंदतम कषाय का नाम संज्वलन ऐसे बहुत जीव मानते हैं। परन्तु उनकी यह मान्यता

मिथ्यात्व सहित है। अनन्तानुबन्धी कषाय में भी शुक्ल लेश्या होती है और संज्वलन कषाय में पीतादि लेश्या होती है और अप्रत्याख्यान कषाय में भी परम कृष्ण लेश्या होती है इससे सिद्ध होता है कि कषाय की तीव्रता की अपेक्षा ये चारों ही कषाय के भेद नहीं हैं, परन्तु पर पदार्थों में सुख की कल्पना करावे और मेरी आत्मा में सुख है ऐसी रुचि न होने दे अर्थात् स्वरूपाचरण चारित्र न होने दे ऐसी कषाय का नाम अनन्तानुबन्धी कषाय है। पर पदार्थों में से रुचि हटकर आत्मा में रुचि हुई है परन्तु एक देश चारित्र रूप कषाय छोड़ने का भाव न होने दे ऐसी कषाय का नाम अप्रत्याख्यान कषाय है। एक देश त्याग करने देवे परन्तु सकल संयम न होने देवे ऐसी कषाय का नाम प्रत्याख्यान कषाय है। सकल संयम होने देवे परन्तु सम्पूर्ण वीतराग भाव न होने देवे ऐसी कषाय का नाम संज्वलन कषाय है। अर्थात् वीतराग भाव के घात की अपेक्षा ये चारों ही कषाय हैं।

अन्तानुबन्धी कषाय—अनन्तानुबन्धी कषाय वाला जीव पर पदार्थों में ही सुख है ऐसी कल्पना कर उसी को इकट्ठे करने में ही अपने पुरुषार्थ को लगाता है एवं अनिष्ट सामग्री दुःख का कारण है ऐसी कल्पना से उन्हीं

पदार्थों को दूर करने के लिए पुरुषार्थ कर रहा है। संसार के कोई भी पर पदार्थ इष्टानिष्ट नहीं हैं ऐसा ज्ञान उस जीव को नहीं होने से पर पदार्थों से इष्टानिष्ट कल्पना कर दुःखी हो रहा है। जिसने एक पर-पदार्थ में इष्ट बुद्धि करी ऐसे जीव ने अनन्त पर-पदार्थ होने से अव्यक्त रूप में अनन्त पर-पदार्थों में इष्ट बुद्धि करी ही है ऐसी कषाय का नाम अनन्तानुबन्धी लोभ है। जिसने एक पर-पदार्थ में अनिष्ट कल्पना की है ऐसे जीव ने अनन्त पर-पदार्थों के होने के कारण अव्यक्त रूप से अनन्त पर-पदार्थों में अनिष्ट कल्पना की ही है ऐसी कल्पना का नाम अनन्तानुबन्धी क्रोध है। अनन्तानुबन्धी कषाय वाला जीव सत् देव गुरु और व्यवहार धर्म की श्रद्धा करता है। श्रावक मुनि का व्यवहार आचरण जैसा जिनेन्द्र देव ने कहा है ऐसा ही पालन करता है परन्तु तो भी अव्यक्त में पर-पदार्थ को इष्टानिष्ट नियम से मान रहा है। व्यवहार चारित्र का पालन करता है उसमें ही अपना वह कल्याण समझता है। पुन्य भाव को चारित्र कहना वह व्यवहार है, और पुन्य भाव को पुन्य भाव कहना निश्चय है। व्यवहार चारित्र मात्र संसार सुख का कारण है जिसको वह जीव मोक्ष का कारण मानता है यही मिथ्यात्व है। ऐसी वह कषाय मन्द

करता है कि घानी में पीस डाले तो भी मुख से आवाज भी न निकाले। शरीर का चमड़ा उखाड़ कर नमक छोड़े तो भी दुश्मन पर क्रोध नहीं करता है। ऐसी बाह्य में प्रवृत्ति होते हुए भी आत्मा का ज्ञान नहीं होने से मिथ्यादृष्टि ही रहता है। अनन्तानुबन्धी कषाय वाला जीव ग्यारह अंग और नौ पूर्व तक का ज्ञान प्राप्त कर लेता है परन्तु आत्मानुभव न होने के कारण उसको व्यवहार सम्यग्दृष्टि कहा जाता है ऐसे व्यवहार सम्यग्दृष्टि की वाणी सुनकर अन्य जीव सम्यग्दृष्टि बन सकता है। ऐसा व्यवहार सम्यग्दृष्टि जीव बाह्य में नग्न दिगम्बर मुनि की अवस्था धारण कर आगमानुकूल २८ (अट्ठाईस) मूलगुण का पालन करता है। बाईस परिषह को आगमा-नुकूल जीतता है। देव, मनुष्य तिर्यंच द्वारा आए उपसर्ग को यथार्थ जीतता है रति मात्र कषाय नहीं करता है तो भी अभ्यन्तर में सूक्ष्म मिथ्यात्व रूप भाव रह जाता है। जिसका भाव उसके ज्ञान में नहीं आता है वही सूक्ष्म मिथ्यात्व का भाव मात्र केवल ज्ञान गम्य है जिस कारण से ऐसे महान तपस्वी मुनि को द्रव्यलिंगी मुनि कहा जाता है। कैसा है वह द्रव्यलिंगी मुनि शीतकाल में नदी के तट पर आसन लगाकर बैठकर ध्यान मुद्रा में स्थित रहता है। उष्णकाल में पर्वत के शिखर पर मध्याह्न में

कायोत्सर्ग का आतापन करता है। वर्षा ऋतु में पेड़ के नीचे बैठकर ध्यान करता है। साधारण जीवों की शक्ति नहीं है कि वह पहचान जावे कि यह द्रव्यलिंगी है ऐसी महान तपस्या का करने वाला है। परन्तु जो मुनि २८ (अट्ठाईस) मूल गुण यथार्थ पालन करता नहीं हैं, पांच इन्द्रिय के विषय से जीता गया है, शीतकाल में शीत का परिषह जीतने की शक्ति नहीं होने से एक बैलगाड़ी जितना घास ओढ़ता है बाह्य में नग्न होते हुए भी ऐसे मुनि को द्रव्यलिंगी नहीं कहा है मात्र वेषधारी कहा है। ऐसी अवस्था अनन्तानुबन्धी कषाय में भी हो सकती है। अनन्तानुबन्धी कषाय में भी असंख्यात लोक प्रमाण भेद होते हैं। सप्तम नरक के नारकी के भी अनन्तानुबन्धी कषाय होती है और नौवें ग्रैवेयक के अहमिन्द्र देव को भी अनन्तानुबंधी कषाय हो सकती है तो भी दोनों जीवों में कषाय की तारतम्यता में महान अन्तर है इसी प्रकार अनन्तानुबंधी कषाय में भेद जानना।

अप्रत्याख्यान कषाय—अप्रत्याख्यान कषाय वाले जीव में नियम से उपशम सम्यग्दर्शन, क्षयोपशम सम्यग्दर्शन और क्षायक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है जिस कारण से उसी को अव्रती सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। इस कषाय वाले जीव का चतुर्थ गुणस्थान होता है। इस

कषाय में असंख्यात लोक प्रमाण भेद होता है। अप्रत्याख्यान कषाय वाले जीव में उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या एवं परम शुक्ल लेश्या रूप के भाव होते हैं। इस कषाय वाले जीव में पर पदार्थों में इष्टानिष्ट की श्रद्धा नहीं है परन्तु इसकी यह श्रद्धा है कि संसार के कोई भी पदार्थ सुख दुःख के कारण नहीं हैं परन्तु मेरा ही राग भाव दुःख का कारण है और मेरा ही वीतराग भाव मात्र सुख का कारण है। ऐसी श्रद्धा निरंतर कार्य करती ही है। अप्रत्याख्यान कषाय वाला जीव बुद्धि पूर्वक त्रस स्थावर जीवों के मारने के भाव का त्याग नहीं कर सकता है जिस कारण उसको अव्रती सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। अप्रत्याख्यान कषाय वाला जीव, शूद्र के हाथ का जल पीने का भाव, बाजार की मिठाई आदि खाने का भाव, बिलायती दवा औषधि आदि खाने का भाव, नल (टोंटी) के जल पीने का भाव को संपूर्ण रीति के त्याग नहीं कर सकता है परन्तु मद्य, मांस मधु और पंच उदम्बरादि फलों को जिनमें साक्षात त्रस देखने में आते हैं ऐसे पदार्थों का संपूर्ण रीति से त्याग कर देता है। अप्रत्याख्यान कषाय वाले जीव से संकल्पी हिंसा हो जाती है- जैसे विभीषण ने निरपराधी दशरथ राजा तथा जनक

राजा पर अपने बन्धु रावण के प्रति राग के कारण शस्त्र चलाकर घात किया ऐसे घात करने का भाव संकल्पी हिंसा है। जैसे भरत महाराजा तीन लड़ाइयों में अपने लघु भ्राता बाहुबली से हार गये तब कषाय के आवेश में अपने निरपराधी भाई बाहुबली पर चक्र चला दिया यह संकल्पी हिंसा का भाव है। अप्रत्याख्यान कषाय वाले जीवों के श्रद्धा की अपेक्षा सप्त प्रकार का भय नहीं है क्योंकि वे जानते हैं कि द्रव्य सत् रूप है अर्थात् जिसका तीन काल में नाश नहीं होता है परन्तु उसका चारित्र में भय नियम से है। अप्रत्याख्यान कषाय वाला जीव सप्त व्यसन का संपूर्ण रीति से त्याग नहीं कर सकता है जैसे युधिष्ठिर महाराज ने जुआ खेला। अप्रत्याख्यान कषाय वाले जीव से मायाचारी का भी सेवन हो जाता है जैसे श्री रामचन्द्र जी ने सीता जी को कहा कि आप तीर्थक्षेत्र के दर्शन के लिये पधारो और इस आड़ में सीता जी को एकाकी जंगल में छोड़ देने का आदेश अपने सेनापति को दिया यह भाव मायाचारी का ही है। अप्रत्याख्यान कषाय वाला जीव अष्ट मूल गुणों को अतिचार सहित पालन करता है परन्तु अतिचार रहित पालन नहीं कर सकता है। अप्रत्याख्यान कषाय वाले नारकी जीवों में तो विशेष कर संकल्पी हिंसा होती है।

अनन्तानुबन्धी कषाय में जिस जीवने मनुष्य तिर्यंच की आयु बांधली है, बाद में अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव कर अप्रत्याख्यान रूप कषाय है तो वह जीव नियम से भोग भूमि में ही जावेगा. परन्तु विदेह क्षेत्र में सीधा नहीं जाता है क्योंकि विदेह क्षेत्र में सीधा अनन्तानुबंधी कषाय वाला ही जीव जन्म लेता है। मिथ्यात्व अवस्था में यदि नरकायु का बध हो गया हो तो अप्रत्याख्यान कषाय वाला जीव पहले नरक से आगे के नरक में जन्म नहीं लेता है।

अप्रत्याख्यान कषाय वाला जीव, भवनवासी, व्यंतर ज्योतिष्क देव तथा दूसरी नरक पृथ्वी से सप्तम् नरक पृथ्वी में, सर्व विकलेन्द्रिय में और स्त्री वेदों में नियम से जन्म नहीं लेता है।

अप्रत्याख्यान कषाय में बिना छाना जल एवं रात्रि में चारों प्रकार के अहार लेने का भाव हो सकता है।

प्रत्याख्यान कषाय—प्रत्याख्यान कषाय वाला जीव अष्टमूल गुणों को नियम से अतिचार रहित पालन करता है तथा सप्त व्यसन का त्याग संपूर्ण रीति से करता है तथा जल बिना छाने कभी भी पीने का भाव नहीं होता है। रात्रि में चार प्रकार के आहार खाने का भाव होता ही नहीं है। प्रत्याख्यान कषाय में नियम से संकल्पी हिंसा का त्याग हो जाता है परन्तु स्थावर जीवों

की विवेक पूर्वक हिंसा हो जाती है। इस कषाय के तीव्रोदय में त्रस जीवों की आरंभी उद्योगिनी और विरोधी हिंसा हो जाती है। प्रत्याख्यान कषाय के भी असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं तो भी उसके ग्यारह भेदों में समास किया जाता है, जिस भेद के नाम को प्रतिमा कही जाती है। १—दर्शन प्रतिमा २—व्रत प्रतिमा ३—सामायिक प्रतिमा ४—पोषध प्रतिमा ५—सचित्त भक्षण त्याग प्रतिमा ६—रात्रि भुक्ति अनुमोदना त्याग प्रतिमा पुरुषों के लिये और स्त्री के लिये दिवस मैथुन सेवन त्याग प्रतिमा ७—ब्रह्मचर्य प्रतिमा ८—आरंभ त्याग प्रतिमा ९—परिग्रह त्याग प्रतिमा १०—अनुमति त्याग प्रतिमा ११—उच्छिष्टाहार त्याग प्रतिमा। प्रथम प्रतिमाधारी के जितना संवर होता है इतना ही संवर ग्यारहवीं प्रतिमाधारी के होता है संवर में भेद नहीं है परन्तु निर्जरा में महान भेद है। पहली प्रतिमा से छठी प्रतिमा तक जघन्य पद है। सप्तम प्रतिमा से नौवीं प्रतिमा तक मध्यम भेद है और दशवीं ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक का उत्कृष्ट भेद है।

दर्शन प्रतिमा

प्रश्न—दर्शन प्रतिमा का क्या स्वरूप है?

उत्तर—अप्रत्याख्यान कषाय वाला जीव, श्रावक के

आठ मूलगुणों को अतिचार सहित पालन करता है परंतु जब प्रत्याख्यान कषाय रूप भाव होता है तब वह अष्ट मूल गुणों को अतिचार रहित पालन करता है। इस कषाय में अमर्यादित एवं स्थावर अभक्ष्य पदार्थ खाने का भाव होता ही नहीं हैं। इस कषाय में बाजारू शक्कर बूरा भी खाने का भाव होता ही नहीं है। बिना जामन से जमाया हुआ दही में से अष्ट पहर में बनाया घृत मात्र लेने का भाव होता है परन्तु विशेष दिन का जमाया हुआ दही में से निकाला घृत लेने का भाव होता ही नहीं है।

शंका—अभक्ष्य अर्थात् अमर्यादित पदार्थ का क्या स्वरूप है?

समाधान—अभक्ष्य पदार्थ दो प्रकार है। (१) स्थावर अभक्ष्य (२) त्रस अभक्ष्य। इन दोनों अभक्षों में महान अन्तर है। जिस प्रकार सर्वज्ञ वीतराग देव और स्वर्ग के देवों में अन्तर है इतना ही अन्तर इन दोनों प्रकार के अभक्ष्यों में है।

शंका—स्थावर अभक्ष्य किसे कहते हैं?

समाधान—जिस बनस्पति में अनन्त जीव राशी हैं अर्थात् जिसको साधारण जीव-राशी अर्थात् निगोद जीव राशी कही जाती है—जैसे कंद मूलादि एवं जो वनस्पति

खाने से अपने शरीर में बाधा आने की शंका है ऐसो वनस्पति—जैसे अनजानफल, बहुबीजाफल, जिसमें नशा उत्पन्न करने की शक्ति है क्षीरफल, भांग अफीम आदि नशा के पदार्थ सब अभक्ष्य पदार्थ हैं ऐसे पदार्थ खाने का भाव उदासीन श्रावक नहीं करता है ?

शंका—त्रस अभक्ष्य किसको कहते हैं ?

समाधान—जिसमें प्रत्यक्ष त्रस जीव देखने में न आवे परन्तु आगम प्रमाण हैं ऐसे पदार्थ एवं जिसमें त्रस जीव की काय हो ऐसे सब पदार्थ अभक्ष्य कहे जाते हैं। जैसे:—

कच्चे जल को छानने के बाद उसमें दो घड़ी तक त्रस की उत्पत्ति नहीं होती है ऐसा जल दो घड़ी बाद अभक्ष्य है। कच्चे जल को साधारण तप्त कर ले अथवा लोंग, सोंफ आदि मशालों से उसका रंग बदला जावे तो वह जल छः घण्टा अर्थात् दो पहर बाद अभक्ष्य है। जो जल छानने के बाद बहुत ही उबाला जावे ऐसा जल अष्ट पहर बाद अभक्ष्य है। जल की चार पहर की मर्यादा नहीं होती है।

अगहन बदो १ से फाल्गुण सुदी १५ तक आटा एवं धनिया, मिर्च आदि पिसे हुए मसाले की मर्यादा सात दिन की है। चैत्र बदी १ से आषाढ़ शुक्ला १५

(पूनम) तक आटादि की मर्यादा ५ पाँच दिन की है। श्रावण बदी १ से कार्तिक शुक्ला १५ (पूनम) तक आटादि की मर्यादा तीन ३ दिन की है इसके बाद वह पदार्थ अभक्ष्य है।

रोटी, दाल, खिचड़ी, भात, तरकारी आदि की मर्यादा दो पहर की अर्थात् छह घण्टे की है। पूड़ी, भुजिया, पूवा, परांवठा आदि की मर्यादा चार पहर की है। कठोर (पोसरी) पूड़ी सेव आदि जिसको खाते समय दांत की साथ आवाज हो ऐसे नमकीन की मर्यादा २४ घण्टे की है। जिस मिठाई में जल या दूध हो ऐसी मिठाई की मर्यादा २४ घण्टे अर्थात् अष्ट पहर की है। जिस मिठाई में जल एवं दूध नहीं है मात्र घृत, शक्कर शुद्ध एवं आटा ही हो ऐसी मिठाई की मर्यादा आटे की तरह ७-५-३ दिन की है।

बाजारू मील की शक्कर या गुड़ तो अभक्ष ही है परन्तु सांठे में रस अपनी आँख के सामने निकाल कर उसी को छान कर उसी का गुड़ या शक्कर लकड़ी या कोयला जलाकर बनाया जावे तो वह शक्कर या गुड़ शुद्ध है उसकी मर्यादा जब तक रस चलित न हो जावे तब तक की है।

पापड़, अचार आदि की मर्यादा २४ घंटे की अर्थात् अष्ट प्रहर की है।

गाय, भैंस, बकरी आदि के थन शुद्ध जल से धुलाई करने के बाद आंख के सामने निकाले हुए दूध को तुरन्त छानकर दो घड़ी के भीतर गरम किए हुए दूध को मर्यादा २४ घंटे की हैं। ऐसे दूध को बिना जामन से जमाये हुए दही की मर्यादा जिस दिन दूध जमाया है उसके दूसरे दिन तक मात्र की है। ऐसे दही की बनाई हुई छाछ की मर्यादा १२ घंटे की है। ऐसी छाछ में से निकाले हुये मक्खन (लोनी) को तुरन्त तपाकर बनाये हुए घृत को उदासीन श्रावक लेता है ऐसे घृत की मर्यादा जब तक उसकी गन्ध रूपादि न बदल जावे तब तक ही है।

दरिया के पानी का बना हुआ नमक अभक्ष्य है मात्र सैंधा नमक उदासीन श्रावक लेते हैं।

घानी (कोल्हू) को प्रासुक जल से धुलाई किये बाद तिलादिक को शोध कर अपना प्रासुक जल के किये हुए व्यवहार से निकाला हुआ तेल भक्ष्य है (बाजारू तेल अभक्ष्य है) ऐसे तेल का रूप रसादि बदल जावे तो वह अभक्ष्य हो जाता है।

इसी प्रकार बिलायती दवा एवं देशी अमर्यादित

औषधि एवं आहारादि खाने का भाव प्रत्याख्यान कषाय वाले जीवों में होता ही नहीं है, क्योंकि अप्रत्याख्यान नाम की कषाय के अभाव में वही जीव महान् उदासीन बन जाता है।

दूसरी व्रत प्रतिमा

प्रश्न—व्रत प्रतिमा का क्या स्वरूप है?

उत्तर—जो उदासीन श्रावक पांच अणुव्रत धारक होवे, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत सहित होवे। वह व्रती श्रावक है। कैसा है वह व्रती-श्रावक? दृढ़चित्तवान है जो पाप भाव से भयभीत है।

अहिंसाणुव्रत का स्वरूप—जो श्रावक त्रस जीवों को मन वचन और काय द्वारा मारने का भाव नहीं करता है न दूसरे के द्वारा ही घात कराता है, और जो दूसरे जीव घात करते हैं उसे अच्छा भी नहीं मानता, ऐसा अहिंसाणुव्रती श्रावक है। कैसा है वह श्रावक? व्यापारादि कार्यों में दया सहित जिनकी प्रवृत्ति है अर्थात् ऐसा व्यापार वह नहीं करता है जिसमें महान् हिंसा हो। जैसे कत्लखाना खुलवाना, मिलें चलवाना, चमड़ादि का व्यापार करना, जंगल के ठेकेदार बनना, लकड़ी कोयलादि का व्यापार करना, लोहा का व्यापार छुरी, कटारी, तलवार, रिवालवर, बन्दूक, मशीनगन, बम आदि का व्यापार, हलवाई

का व्यापार, होटलादिक का व्यापार, हेअर कटिंग सैलूनादिक का व्यापार, साबुन का कारखाना आदि का व्यापार, मांस मदिरा आदि सूखी मछलियों का व्यापार, आचारादिक का व्यापार करने का भाव होता ही नहीं है। न्याय पूर्वक व्यापार आदि कार्यों में जो हिंसा होती है जिसका उसी को दुःख है, जो अपनी निन्दा करता है और घृणा पूर्वक गुरु के पास अपने पाप रूप भाव को प्रकट कर प्रतिक्रमण आलोचना और प्रायश्चित्तादि करता है।

दूसरा सत्याणुव्रत—उदासीन श्रावक को स्थूल झूँठ बोलने का भाव होता ही नहीं है। हिंसा का वचन बोलने का भाव नहीं होता है। कठोर वचन, निष्ठुर वचन, पर की चुगली का वचन, पर की गुह्य बात खोलने का जिसको भाव होता ही नहीं है। जो स्व-पर को हित रूप, प्रमाण रूप, सर्व जीवों को सुख देने वाला सद्धर्म की प्रभावना करने वाला वचन बोलने का ही जिसका भाव होता है।

तीसरा अचौर्याणुव्रत—बिना दिये हुए दूसरे के द्रव्य को लेने का भाव ही नहीं होता है। बहु मूल्य की वस्तु को अल्प मूल्य में लेने का भाव नहीं होता है। जो कपट से, लोभ से, मान से, और क्रोध से परद्रव्य को

लेने का भाव नहीं करता है ऐसे श्रावक तीसरे अचौर्याणु-व्रत के धारक हैं।

चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत—अपनी विवाहिता स्त्री या विवाहित पुरुष के सिवाय सब स्त्रियों या पुरुषों को विकार भाव से नहीं देखता है। जो श्रावक स्त्री के देह को अशुचिमय जान उसके रूप लावण्य में मोहित नहीं होते हैं। जो पर स्त्री को माता, बहन और पुत्री तुल्य मन, वचन, काय से जानता हैं। जो स्वस्त्री में सन्तोष करता है, जिसके साथ भी तीव्र काम वश विनोद क्रीड़ा रूप प्रवृति न करे परन्तु औषधि रूप में जिसका सेवन करे ऐसा श्रावक ब्रह्मचर्याणुव्रतधारी कहा जाता है।

पांचवा परिग्रह परिमाण अणुव्रत—जो श्रावक आवश्यकता को कम करते हुए जीवन भर के लिये आवश्यकतानुसार दश प्रकार के परिग्रह का परिमाण करले उसी का नाम परिग्रह परिमाण अणुव्रत है। दश प्रकार के नाम ये हैं (१) जमीन (२) मकान (३) सोना (४) चांदी (५) जेवरात (६) गाय भैंस, घोड़ा आदि (७) दासी-दास (८) अनाज (९) पीतल आदि के बर्तन, फर्नीचर इत्यादि (१०) कपड़ा, बिछौना आदि।

प्रथम दिग्विरति गुणव्रत—जीवन भर के लिये अपनी त्याग वृत्ति के अनुसार पूर्व आदि सभी दिशाओं

की मर्यादा निश्चित करके उसके बाहर धर्म कार्य के सिवाय अन्य निमित्त से जाने आने आदि रूप किसी प्रकार का व्यापार-हिंसादि नहीं करना उसी का नाम दिग्विरति गुणव्रत है। इस व्रत में एक वार स्वीकृत दिशाओं की मर्यादा को कालान्तर में घटाया तो जा सकता है परन्तु बढ़ाने का भाव तो होता ही नहीं है।

दूसरा अनर्थ दण्ड विरति गुणव्रत—प्रयोजन के बिना होने वाला निरर्थक विकल्प का नाम अनर्थ दण्ड कहलाता है ऐसे विकल्पो-भावों का त्याग कर देना अनर्थ दण्ड विरति गुणव्रत है। अनर्थ दण्ड के विकल्प पाँच प्रकार होते हैं। (१) अपध्यान (२) पापोपदेश (३) प्रमाद-चर्या (४) हिंसाप्रदान (५) दुःश्रुति श्रवण।

अपध्यान का स्वरूप—दूसरे के दोषों को ग्रहण करने का भाव, पर का धन-लक्ष्मी की वांछा करना, पर की स्त्री का राग भाव से विकार से देखना तथा पर का झगड़ा देखने में आनन्द मनाना यह प्रथम अपध्यान नाम का अनर्थ दण्ड है।

पापोपदेश का स्वरूप—खेती के काम में सलाह देना, पशु का व्यापार करने में सलाह—रास्ता दिखाना, व्यापार का रास्ता दिखाना, जुआखाना कैसा बनवाना, इनकम टैक्स से कैसे बचजाना, जगात से कैसे बचजाना

इत्यादि के विषय में रास्ता दिखाने का भाव पापोपदेश नाम का अनर्थदण्ड है।

प्रमादचर्या का स्वरूप—निष्प्रयोजन पृथ्वी खोदना। जल गिरा देना अर्थात् स्नान में दो चार बाल्टी जल गिराना, नल के नीचे बैठकर स्नान करते ही रहना, बिना प्रयोजन अग्नि जलाते ही रहना, निष्प्रयोजन हवा खाना, इलेक्ट्रिक पंखा चलाते रहना, बत्ती जलाते रहना, बिना प्रयोजन वनस्पति को छेदन भेदन इत्यादि करना यह प्रमादचर्या नाम का अनर्थदण्ड है।

हिंसादान का स्वरूप—बिलाव आदि हिंसक जीवों का पालन करना, कुल्हाड़ी आदि मांगने से देना, खेती के काम के लिये दूसरे जीवों को फावड़ा, कुदाली, आदि देना। छुरी, कटार, तलवार, रिवालवर आदि हिंसाकारी उपकरण दूसरे जीवों को भेंट में देना। साधु कहलाने वाले जीवों अथवा परिग्रह महाव्रत के पालन करने वाले जीवों को साबुन, घड़ी, चश्मा, फाउनटेनपेन, चटाई, कपड़े आदि का दान देना यह सब हिंसादान नाम का अनर्थदण्ड है।

दुःश्रुति का स्वरूप—एकान्त वादियों के बनाये हुए कुशास्त्रों का तथा हास्य कौतूहल करने वाले उपन्यास शास्त्रों तथा वशीकरण मन्त्र जन्त्रादिक के शास्त्रों, तथा

स्त्रियों को कुचेष्टा दिखाने वाले कोकशास्त्रों आदि का पढ़ना-सुनना और ऐसे शास्त्र दूसरे जीवों को दान में देना ये सब दुश्रुति नाम का अनर्थदण्ड है।

ये पांच प्रकार के अनर्थदण्ड आत्मा को दुख में डुबाने वाले हैं। ऐसे अनर्थदण्ड के जो श्रावक त्यागी हैं वे ही अनर्थदण्डविरति गुणव्रत के धारी हैं।

तीसरा भोगोपभोग परिमाण गुण व्रत

उदासीन श्रावक अपनी शक्ति एवं परिग्रह की मर्यादा जान भोजन, तांबूल, वस्त्र आदि का प्रमाण-मर्यादा करे। जो आत्मा प्राप्त वस्तु का त्याग करता है उसी की देवों का इन्द्र भी प्रशंसा करता है, तथा जो अप्राप्त वस्तु का त्याग करता है, वह इतना प्रशंसा को प्राप्त नहीं है। भोजन, पानी माला आदि भोग वस्तु हैं और बिछौना चारपाई, वस्त्रभूषण, स्त्री, आदि उपभोग हैं। इनकी निरन्तर आवश्यकता को कम करते हुए परिमाण करते रहना भोगोपभोग परिमाण नाम का गुण-व्रत है। आज मैं इतना रस छोड़कर आहार लेऊँगा। मैं आज इतनी बार जल पीऊँगा। मैं आज इतना ही कपड़ा, गहना पहनूँगा। मैं आज स्त्री का भोग नहीं करूँगा इत्यादि की मर्यादा कर ही लेनी चाहिये। चौके में अनेक सामग्री बनी है तो भी इतनी मर्यादा करके मैं

मात्र आज दाल-रोटी ही लेऊँगा । दूध छोड़कर खीर और मावा खा लेना । मीठा छोड़कर किशमिश छुआरे का हलवा खा लेना, घृत छोड़कर खोपरे का लड्डू खा लेना, नमक छोड़कर मीठा बनाने का आदेश देना यह त्याग नहीं है यह तो छल है । ऐसा त्याग तो अपनी ही आत्मा को ठगता है ।

प्रथम सामायिक शिक्षा व्रत

सामायिक करने में क्षेत्र, काल, आसन, मन-शुद्धता, वचन शुद्धता और काय की शुद्धता रखना यह तो सामायिक की सामग्री है । जहाँ घोंघाट न हो, जहाँ बहुत लोगों का आवागमन न हो, जहाँ डांस, मच्छर, चींटी, भ्रमर आदि शरीर के बाधाकारक जीव न हों ऐसी भूमि-क्षेत्र सामायिक करने योग्य है । प्रभात काल, मध्याह्न काल और अपराह्न काल इन कालों में दो दो घड़ी काल सामायिक करने योग्य है ऐसा गणधरदेव ने कहा है । पर्यंकासन अथवा खड्गासन रहकर काल की मर्यादा कर, विषय में इन्द्रियों का व्यापार न होने देना परन्तु एकाग्र-चित्त होकर अपनी आत्मा के गुण पर्याय के चिंतवन में, अथवा पंचपरमेष्ठि की भक्ति में या जाप में उपयोग का लगाना । कायोत्सर्ग कर, हस्त की अंजली जोड़ कर,

अपनी आत्मा का चिन्तवन करना और सर्व प्रकार के सावद्य योग का त्याग करना इसी का नाम व्यवहार सामायिक शिक्षाव्रत है। निश्चय सामायिक तो अनन्तानुबन्धी एवं अप्रत्याख्यान कषाय के अभाव रूप वीतराग भाव प्रगट हुआ है, वही है। सामायिक के काल में हाथ पैर आदि शरीर के अवयवों को निश्चल न रखकर व्यर्थ ही चलाते रहना, नींद का झोंका लेना, कभी कमर को सीधी करना और कभी झुका देना तथा कभी आँखों का खोलना और कभी बन्द करना आदि व्यवहारों से सामायिक में अतिचार लग जाते हैं जिसको कायदुष्प्रनिधान नाम का अतिचार कहा जाता है। सामायिक के काल में गुनगुनाने लगना इत्यादि अतिचार का नाम वचन दुष्प्रनिधान है। सामायिक के काल में मन में अन्य विकल्पों का हो जाना, किसी का भला बुरा विचारने लगना। व्यापार का, गृहस्थी का विचार आ जाना इत्यादि अतिचार का नाम मन दुष्प्रनिधान है। सामायिक में उत्साह का न होना अर्थात् सामायिक का समय होने पर भी योग्य काल में सामायिक में न बैठना एवं सामायिक में चित्त न लगाना जैसे तैसे काल पूरा करना इस अतिचार का नाम अनादर नाम का अतिचार है। सामायिक में चित्त न लगाने से पाठ बोलते-बोलते भूल जाना, इधर का

उधर बोल देना, यह भी सामायिक का अतिचार है जिसको स्मृत्यनुपस्थान नाम का अतिचार कहा जाता है। इस अतिचार को लगाने के लिये अतिचार दिखाया नहीं है परन्तु इतना अतिचार लगाने वाले जीव को सामायिक में रुचि है तो एक दिन वह नियम से सुधर जायगा। परन्तु ये दोष समझकर जो सामायिक करना छोड़ देगा उस जीव को सुधरने का भी अवकाश नहीं है।

दूसरा प्रोषधोपवास नाम का शिक्षाव्रत

उदासीन श्रावक पक्ष के अष्टमी-चतुर्दशी दोनों ही पर्व के दिन में स्नान विलेपन आभूषण स्त्री संसर्ग सुगंध धूप-दीप आदि भोगोपभोग की वस्तु का त्यागकर वैराग्य भावना सहित आत्मा को सुशोभित कर उपवास अर्थात् चारों प्रकार का आहार खाने के भाव का त्याग अथवा एक भुक्ति वा नीरस आहार ले चैत्यालय, साधुनिवास, उपवास गृह आदि एकान्त स्थान में धर्म कथा करते हुए समय बिताना उसी का नाम प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत है।

तीसरा देशविरति शिक्षा व्रत

उदासीन श्रावक दिग्विरति गुणव्रत में जो दशों दिशाओं के जीवन भर की मर्यादा की थी उस मर्यादा में कषाय की निवृत्ती के लक्ष से एवं बाह्य पाप हिंसादि

की निवृत्ति के लक्ष्य से नियम पूर्वक अमुक दिन, मास आदि पाप प्रवृत्ति के लिये जाने आने की मर्यादा में घटाता जावे उसी का नाम देश विरति शिक्षाव्रत है।

चौथा अतिथि संविभाग नाम का शिक्षाव्रत

उदासीन श्रावक उत्तम, मध्यम, जघन्य इस प्रकार तीन प्रकार के पात्रों को दातार उत्तम पात्र नग्न दिगम्बर मुनि को नवधा भक्ति से और अन्य पात्रों को उसके पद के अनुकूल भक्ति—पूर्वक अपने निज के लिये जो आहार बनाया है उसमें से ही दान नित्य देवे उसी का नाम अतिथि संविभाग नाम का चौथा शिक्षा व्रत है। नवधाभक्ति इस प्रकार की होती है। (१) पडगाहना (२) उच्च स्थान (३) पादप्रक्षालन (४) पूजन (५) प्रणाम (वंदना) (६) मन शुद्धि (७) वचन शुद्धि (८) काय शुद्धि (९) आहार-पान शुद्धि।

दान चार प्रकार का है (१) आहारदान (२) औषध-दान (३) अभयदान (४) ज्ञानदान। चारों प्रकार के दान उत्तम हैं तो भी सर्वोत्तम ज्ञान दान ही है जो दान अनंत संसार के दुःख के काटने को शस्त्र समान है।

सल्लेखना मरण—उदासीन व्रती श्रावक समाधि पूर्वक मरना चाहता है। ऐसा श्रावक जीवन के अन्तिम काल में सल्लेखना व्रत को धारण करता है। भली प्रकार

से काय और कषाय का कृश करना सल्लेखना कही जाती है। जीवन के अन्त में जब यह प्राणी देखता है कि यह पर्याय छूटने वाली है तब वह शरीर से तथा दूसरे परिवारों से अपना ममत्व-राग घटाने का प्रयत्न करता है परन्तु यह बात सहज साध्य नहीं है किन्तु इसके लिए बड़े भारी पुरुषार्थ की आवश्यकता है। इसके लिये इसे कुटुम्ब आदि से ममत्व घटाकर अन्त में देह, आहार और परिग्रह का त्याग करता हुआ आत्मध्यान में अपने को लगाता है तब कहीं समाधि पूर्वक मरण प्राप्त होता है। यह व्रत मरण से पूर्व मरण तक लिया जाता है इसलिये इसी को मारणान्तिकी सल्लेखना कहते हैं। अपनी शक्ति देखकर प्रथम आहार और परिग्रह का त्याग करता है। पीछे क्रम से आहार छोड़कर मात्र दूध लेता है और दूध छोड़कर मात्र छाछ लेता है। छाछ का त्याग कर मात्र जल लेता है, शेष में जल छोड़कर मरण पर्यंत उपवास कर लेता है। यह व्रत मुनि और श्रावक दोनों के लिये बतलाया गया है।

तीसरी सामायिक प्रतिमा—उदासीन श्रावक तीन बार नियम पूर्वक सामायिक करे उसमें प्रमाद को न आने दे। सामायिक में बारह आवर्त्त सहित, चार प्रणाम सहित पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करता हुआ प्रसन्न है आत्मा

जिसका ऐसा वीर धीर श्रावक दृढ़ चित्त होकर कायोत्सर्ग कर अपने गुण पर्याय की चिन्तवना करे या देव गुरू और धर्म की चिन्तवना करे या सामायिकादि पाठ शान्त चित्त से बोले या पंच परमेष्ठी का जाप कर सावद्य योग का त्याग कर व्यवहार धर्मध्यान में समय व्यतीत करे। यह सामायिक भी व्यवहार सामायिक है इसमें भी जीवों को अनेक प्रकार का अतिचार लग जाता है तो भी धर्मात्मा जीव उस अतिचार को छोड़ने का प्रयत्न करता है और सामायिक के प्रति अनादर भाव नहीं करता है। सामायिक शिक्षा व्रत में सामायिक प्रयोगरूप अनियमित रूप में हो जाती थी परन्तु सामायिक प्रतिमा में नियमित रूप होती है इतना ही इसमें भेद है।

पौषध प्रतिमा का स्वरूप—ऐसा उदासीन श्रावक शक्ति होवे तो जीवन भर एक बार आहार जल लेने की प्रतिज्ञा करे यह उत्तम रीति है। यदि यह न बन सके तब पक्ष में दो बार अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशी का नियम पूर्वक उपवास करने की जीवन पर्यन्त की प्रतिज्ञा करले। सप्तमी और त्रयोदशी के दिन में दोपहर के बाद जिन चैत्यालय में जाकर शास्त्र स्वाध्याय में दिन व्यतीत कर संध्या समय सामायिकादि नित्य क्रिया-कर्म कर चार

प्रकार के आहार का त्याग कर उपवास ग्रहण करे। गृहस्थी का सर्व प्रकार के सावद्ययोग का त्याग कर व्यवहार धर्म-ध्यान पूर्वक सप्तमी और त्रयोदशी की रात्रि व्यतीत करे और अष्टमी चतुर्दशी के प्रातः सामायिकादि नित्य क्रिया-कर्म से निवृत्त होकर सारा दिन धर्मध्यान में अर्थात् शास्त्र स्वाध्याय, धर्म की चर्चा आदि में व्यतीत करे। संध्या समय भी सामायिकादि नित्य नियम से निवृत्त होकर सारी रात्रि भी धर्म ध्यान में व्यतीत करे। नवमी वा पूर्णिमा के दिन प्रातः में सामायिकादि क्रिया से निवृत्त होकर जिन पूजनादि विधान में व्यतीत करे। भोजन के समय तीन प्रकार के पात्रों का पड़गाहन कर उन्हीं को अहारादि दान देकर स्वयं आहार करे। इसी प्रकार के जीवों की भाव-क्रिया का नाम प्रोषध प्रतिमा है। जो उदासीन श्रावक आरम्भ का त्याग कर उपवास करता है वह जीव बहुत भवों के बांधे हुए कर्मों का नाश करता है परन्तु जो जीव उपवास कर घर कार्य में या व्यवसाय में ही दिन व्यतीत करता है, इस तरह जीवन में आहार मात्र का ही त्याग करने से तथा विषय कषाय और सावद्य योग का त्याग न करे तो वह उपवास लंघन मात्र ही है। ऐसा लंघनरूप उपवास से कर्म की निर्जरा नहीं होती है। यहां कर्म

की निर्जरा कही है परन्तु उपवास से आत्मीय निर्जरा नहीं होती है मात्र पुन्य बन्ध ही पड़ता है।

सचित्त त्याग प्रतिमा का स्वरूप—सचित्त त्याग प्रतिमाधारी उदासीन श्रावक का सचित्त वनस्पति खाने का भाव होता ही नहीं परन्तु उसे नियम से प्रासुक वनस्पति खाने का भाव होता है। इतना इसमें राग भाव का अभाव होता है यद्यपि वह श्रावक अपने हाथ से ही सचित्त वनस्पति को प्रासुक बनाता है। वनस्पति प्रासुक बनाना त्याग नहीं हुआ है मात्र सचित्त खाने के भाव का त्याग हुआ है।

शंका—तब वह उदासीन श्रावक क्या वनस्पति के जीवों को मार कर खावेगा ?

समाधान—यह आपकी भाषा ही कठोर हिंसा-युक्त है, जैसे माता को माता न कह कर पिता की जोरू या पत्नी कहना विवेक शून्य है। वनस्पति के जीवों को मार कर खाने का भाव नहीं है परन्तु वहां तो तीव्र खाने के राग का अभाव होता है जिसको विवेक वाली भाषा में प्रासुक आहार खाने वाला कहा जाता है। जैसे एक व्रती तथा दूसरा अव्रती मनुष्य बाहर गांव जा रहे हैं। उन दोनों को बहुत ही क्षुधा एवं प्यास भी लगी है। एक गांव में पहुँचते ही खाने के पदार्थ खोजते हुए

उन्हें बाजार में ककड़ी मिली। जिसको सचित्त का त्याग नहीं है वह मनुष्य तो तुरन्त सचित्त ककड़ी खाने लगा और कच्चा जल पीने लगा परन्तु जिसको सचित्त का त्याग है वह जीव जब तक ककड़ी प्रासुक न होवे तबतक वह जीव अपने खाने के भाव को रोकता है। यही तो भावों में महान फर्क है। भाव के फर्क में आप देखते नहीं हो और जीवों को मार कर खाता है यह कहना महान मूर्खता और मूढ़ता है।

शंका—जिस जीव के हरा--कच्चा आलू का त्याग है वह उसे सुखाकर खा सकता है?

समाधान—दूसरी वनस्पतियों को प्रासुक कर न खाना और मात्र आलू को प्रासुक अर्थात् सुखाकर खाना यह तो तीव्र राग भाव है। जहां तीव्र राग भाव है वहां धर्म की गन्ध भी या भाव भी नहीं है। धर्मात्मा-जीव ऐसा छल करता ही नहीं।

शंका—जैसे अदरख एवं आलू दोनों ही अनंतकाय हैं। अनन्त जीव की जिसमें हिंसा होती है। ऐसे एक ही जाति के होते हुए सोंठ तो खाते हैं इसी प्रकार सूखा आलू खाने में क्या दोष है?

समाधान—सोंठ खाने के राग में और सूखा आलू

खाने के राग में महान् अन्तर है। सोंठ तो औषधि की तौर से खाई जाती है, जबकि सूखा आलू खाने के आहार की तौर से खाया जाता है। दोनों राग में महान् अन्तर है। सूखा आलू खाने का राग तीव्र पापका ही कारण है इसलिये धर्मात्मा जीव ऐसे निकम्मा भाव कभी भी नहीं करता है।

सचित्त त्याग प्रतिमा धारी उदासीन श्रावक के जिस जिस वस्तु का त्याग है ऐसी सचित्त वस्तु दूसरे जीवों को भी खाने को नहीं देता है क्योंकि खाने और खिलाने में कोई अन्तर नहीं है। कृत कारित और अनुमोदना का समान फल है। जिसने सचित वनस्पति का त्याग कर दिया है, उस जीव ने अपनी जिह्वा इन्द्रिय को जीतकर दया भाव प्रगट किया है क्योंकि उसने जिनेन्द्र देव के वचन का पालन किया है।

छठवीं रात्रिभुक्ति अनुमति-दिवामैथुन त्याग प्रतिमा यह प्रतिमा पुरुष के लिये रात्रि भुक्ति अनुमति त्याग रूप प्रतिमा है और स्त्री के लिये दिवस मैथुन सेवन करने का त्याग रूप प्रतिमा है। उदासीन श्रावक-श्राविका का अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन करने का भाव अभी नहीं हुआ है जिससे वे दोनों अभी अब्रह्मचर्य का सेवन

करते हैं, जो संतति उत्पत्ति का कारण है। बालक की उत्पत्ति होने से उसकी माता रात्रि में उस बालक को दूध जल आदि पिलावेगी जिस कारण से स्त्री को रात्रि में चार प्रकार के आहार को खाने का त्याग है परन्तु वह अभी रात्रि में खिलाने को अनुमोदना का त्याग नहीं कर सकती है। परन्तु वह इतनी उदासीन है कि उसे दिन में अवश्य मैथुन सेवन करने का भाव होता ही नहीं है।

पुरुष को रात्रि में चार प्रकार के आहार खाने का त्याग तो पहली प्रतिमा में हो चुका था परन्तु निकट के स्नेही जन को रात्रि में खिलाने के राग का अभाव नहीं हुआ था। इस प्रतिमा रूप भाव होने से अब अपने निकट के स्नेही को भी रात्रि में खिला देने की अनुमोदना के भाव का भी अभाव हो जाता है और विशेष वैराग्य भाव की ओर बढ़ रहा है।

सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा—उदासीन श्रावक-श्राविका से अभी तक अब्रह्मचर्य का सेवन हो जाता था परन्तु अब ऐसा निर्मल भाव हुआ कि वह अपनी पत्नी के साथ में भी माता-बहन की तरह व्यवहार करने लगा है। अब अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

अब्रह्मचर्य सेवन करने के भाव का जो अभाव हुआ

वह तो निर्जरा का भाव है परन्तु मेरे ब्रह्मचर्य में कोई दोष न आवे इस विषय में जिस सावधानी का भाव है वह पुन्य भाव है। बाढ़ से ब्रह्मचर्य का पालन करने का भाव पुन्य भाव है।

सातवीं प्रतिमा तक के भाव में श्रावक व्यापार आदि कार्य कर सकता है परन्तु वह व्यवसाय न्याय सम्पन्न के साथ जिसमें थोड़ी से थोड़ी हिंसा हो ऐसा व्यवसाय करता है। आठवीं प्रतिमा के भाव में इन सब अवस्थाओं के भाव का अभाव हो जाता है।

आठवीं आरम्भ त्याग प्रतिमा—इस प्रतिमा रूप भाव में उदासीन श्रावक सर्व प्रकार के आरंभ का त्याग कर देता है। अब ऐसे उदासीन श्रावक को कुए में से जल भरना, चूल्हा जलाना, चक्की पीसना, पंखा से हवा खाना, जमीन आदि खोदना एवं हरित काय को काटना समारने का भाव नहीं होता है। ऐसे उदासीन श्रावक को अपने साधर्मी भाई भोजन का निमन्त्रण दे जाते हैं उन्हीं के घर चौके में वह आहार कर आता है।

ऐसा उदासीन श्रावक सर्व प्रकार की सवारी का अर्थात् रेल में बैठना, मोटर में बैठना, हवाई जहाज में यात्रा करना, बैलगाड़ी, घोड़े की गाड़ी एवं किसी भी

प्रकार के जानवर पर बैठकर यात्रा करने का भाव होता ही नहीं। वह नियम से पैदल विहार करता है वह भी विहार इर्या समिति पूर्वक ही करता है।

शंका—शास्त्र में क्षुल्लक पद के धारी जीवों ने विमान में विहार किया है ऐसा उल्लेख मिलता है तब आप इधर मना कैसे करते हो ?

समाधान—वह जो उल्लेख है उसमें तो मंत्र से विमान चलता था जिसमें हिंसा का कारण नहीं था परंतु रेलवे, हवाई जहाज, मोटर आदि तो तंत्र से अर्थात् मशीन से चलते हैं जो हिंसा का ही उपकरण हैं। रेल से तो भैंसा आदि बड़े-बड़े जानवर भी कट जाते हैं। मोटर से पक्षी एवं जमीन पर चलने वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय बहुत जानवरों की हिंसा होती प्रत्यक्ष दिखाई देती है। ऐसी महान हिंसा के उपकरणों का उपयोग धर्मात्मा उदासीन आत्मा कैसे कर सकता है ? वर्तमान में यह जो मार्ग दिखाई देता है वह अज्ञान पूर्वक त्याग की महिमा है। सच्चा उदासीन श्रावक को ऐसा भाव होता ही नहीं है।

शंका—आरंभ त्यागी श्रावक टार्चलाईट एवं लालटेन इलेक्ट्रिक बत्ती आदि जला सकता है या नहीं ?

समाधान—अरे रे ? यह तो प्रत्यक्ष हिंसा है। ऐसा

भाव आरम्भ त्यागी को होता ही नहीं है। विशेष तो क्या जलती हुई लालटैन की बत्ती कम करने का भी भाव उसे होता नहीं है।

आरम्भ त्यागी श्रावक अपना कपड़ा भी अपने हाथ से नहीं धोता है क्योंकि उसके ऐसा भाव होता ही नहीं है।

शंका—तब क्या आरंभ त्यागी श्रावक मैला कपड़ा पहिनेगा? ऐसे मैले कपड़े में तो त्रस जीव की उत्पत्ति हो जाती है।

समाधान—आरंभ त्यागी श्रावक कपड़ा की धुलाई भी स्वयं नहीं करता एवं मलीन वस्त्र भी नहीं पहनता, परन्तु गृहस्थी श्रावक ऐसे आरंभ त्यागी श्रावक के वस्त्रों की प्रासुक जल से धुलाई कर यथायोग्य समय पर दे जाता है। यह तो गृहस्थों का धर्म है।

ऐसा आरंभ त्यागी श्रावक व्यवसाय का तो त्याग कर ही देता है परन्तु अपने पास में से जो पूंजी लक्ष्मी है उसका सूद भी नहीं खाता है। अभी उसके पास में धन का परिग्रह है परन्तु वह तो मात्र धर्म कार्य में ही लगाता है।

नौवीं परिग्रह त्याग प्रतिमा—आरंभ त्याग प्रतिमा धारी के पास में जो धन का परिग्रह था जिसे वह

शास्त्रादि दान में लगाता था, अब परिग्रह त्याग प्रतिमा में ऐसा धन भी रखने का भाव उसके नहीं होता है, मात्र अमुक वस्त्र छोड़ कर सभी चीजों का त्याग होता है।

ऐसा परिग्रह त्यागी श्रावक यद्यपि निमन्त्रण से ही आहार श्रावक के घर ले आता है तो भी आहार बनाने में अभी अनुमति देता है। निमंत्रण स्वीकार करना यह भी तो अनुमति ही है। हमारे लिए उकाली आदि बनवा-लेना इत्यादि कहना भी अनुमति है। इस प्रकार की अनुमति का त्याग इस प्रतिमा में होता नहीं है।

दसवीं अनुमति-त्याग प्रतिमा—इस प्रतिमा के भाव में सब प्रकार की सावद्य की अनुमति का भाव छूट जाता है। यह प्रतिमा-धारी श्रावक भोजन का निमंत्रण स्वीकार नहीं करता है क्योंकि निमंत्रण स्वीकार करने में तो भोजन में जो हिंसा होती है उसमें उसकी अनुमोदना आती है परन्तु अनुमति त्याग प्रतिमा में उस प्रकार की अनुमति का भी त्याग हो जाता है। अनुमति त्यागी श्रावक को अब यह भाव होता ही नहीं है कि मेरे लिये उकाली बनवा लेना। परन्तु गृहस्थ श्रावक भोजन के समय में उसे भक्ति सहित अपने चौके में ले जाकर आहार पान खिला देता है। इस प्रतिमा में दूसरो बार जल लेकर पोने का भाव होता ही नहीं है।

इस प्रकार उदासीन अनुमति त्यागी श्रावक अपने लिये श्रावक के घर में बनाया हुआ प्रासुक आहार लेता है। यदि उसके लिए आहार न बनता तो श्रावक ऐसे त्यागी को आहार के लिए बुलाने को क्यों जाता ? इससे सिद्ध होता है कि अभी भी उस अनुमति त्यागी को उद्दिष्ट आहार का दोष लगता ही है।

ग्यारहवीं उद्दिष्ट आहार त्याग प्रतिमा—अनुमति त्यागी उदासीन श्रावक में विशेष रूप से वैराग्य भावना होती हैं और वह सोचता है कि मेरे निमित्त से बना हुआ भी आहार क्यों लूँ ? तब वह श्रावक प्रतिज्ञा करता है आज से जीवन पर्यंत मेरे निमित्त से जो आहार बना होगा वह नहीं लूँगा। ऐसा सोचकर भिक्षाचरण पूर्वक ही मन वचन और काय से तथा कृत-कारित अनुमोदना जन्य नौ प्रकार के दोष रहित जो आहार होगा वही ग्रहण करूँगा। ऐसा आहार न मिलेगा तो उपवासादि करूँगा या समाधिमरण करूँगा। ऐसा उदिष्ट आहार त्यागी निर्दोष आहार ग्रहण करता है, परन्तु सचित्तादि दोषों सहित ग्रहण नहीं करता है, जो आहार ग्रहण करता है वह भी याचना रहित ग्रहण करता है परन्तु याचना पूर्वक ग्रहण नहीं करता है। ऐसे उद्दिष्ट त्यागी श्रावक में और श्राविका में भी दो-दो भेद हैं (१) क्षुल्लक (२) ऐलक

और स्त्री में (१) क्षुल्लिका (२) अर्जिका। इन दोनों में निम्न प्रकार के भेद हैं।

क्षुल्लक अपने पास में परिग्रह लंगोटी तथा एक चादर रखता है। वह कैंची आदि से केश लोंच करावे या अपने हाथ से भी केश लोंच करे, वह बैठकर धातु के पात्र में भोजन करता है या कर पात्र में भी भोजन करता है। क्षुल्लिका भी एक साड़ी तथा एक चादर मात्र का परिग्रह रखती है। बाकी की क्रिया क्षुल्लक माफिक है। ऐलक परिग्रह में मात्र लंगोटी का ही परिग्रह रखता है क्योंकि उसने अभी तक स्पर्श इन्द्रिय को जीता नहीं है वह केश लोंच करता है और अपने करपात्र में भोजन करता है और बैठकर भोजन करता है। ज्ञान पाहुड की गाथा २१ में कहा भी है—

दुइयं च उत्तलिंगं उक्किट्ठं अवरसावयाणं च।
भिक्खं भमेई पत्ते समिदी भासणे मोणेय॥

अर्थ—दूसरा लिंग कहिये भेष उत्कृष्ट श्रावक कहिये जो गृहस्थ नहीं है ऐसा उत्कृष्ट श्रावक ताका कहा है, सो उत्कृष्ट श्रावक ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक है सो भ्रमण करे, भिक्षाकारी भोजन करे, बहुरि पत्ते कहिये पात्र में भोजन करे तथा हाथ में करे, बहुरि समिति रूप प्रवर्तता भाषा समिति रूप बोले अथवा मौन करि प्रवर्ते।

अर्जिका परिग्रह में मात्र एक साड़ी ही रखती है, एक बार भोजन पान करती है और ऐलक की सब विधि का पालन करती है।

शंका—जब रजस्वला हो जावे तब अर्जिका को मात्र एक साड़ी से कैसे काम चल सकता है ?

समाधान—जब अर्जिका की साड़ी मलीन हो जावे तब गृहस्थ का धर्म है कि वह दूसरी साड़ी अर्जिका को दे। उसकी पुरानी साड़ी अपने यहां ले जावे इसी से मात्र एक साड़ी से अर्जिका का काम चल सकता है। सूत्र पाहुड में गाथा २१ में कहा भी है कि—

लिंगं इत्थीण हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि।
अज्जिय वि एकवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ ॥

अर्थ—स्त्री का अर्जिका का लिंग ऐसा है। एक काल विषै भोजन करे बारंबार भोजन नहीं करे बहुरि अर्जिका भी होय तो एक वस्त्र धारे बहुरि भोजन करते भी वस्त्र के आवरण सहित करें नग्न नहीं करे।

शंका—ग्यारहवीं प्रतिमा धारी श्रावक श्राविका अपना वस्त्र अपने हाथ से धुलाई करे या नहीं ?

समाधान—नहीं-वह अपने हाथ से वस्त्र की धुलाई नहीं करता है। ऐसा हिंसा का आरंभ का त्याग तो उसे आरंभ त्याग प्रतिमा में हो जाता है। इसके वस्त्र की

धुलाई गृहस्थ प्रासुक जल से कर देता है और यही गृहस्थ का धर्म है।

शंका—यदि गृहस्थ उसके वस्त्र की धुलाई न करे, ऐसी अवस्था में वह क्या करे?

समाधान—द्रव्य क्षेत्र काल भाव विचार कर ही वह प्रतिज्ञा लेता है और जो द्रव्य क्षेत्रकाल भाव का विचार किये बिना ही त्यागी बनजाता है वही जीव नियम से अपने पद से भ्रष्ट हो जाता है। अपने हाथ से ग्यारहवीं प्रतिमा धारी श्रावक वस्त्र की धुलाई करे तो वह ग्यारहवीं प्रतिमा धारी श्रावक नहीं है परन्तु नाम मात्र का त्यागी है।

शंका—ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक-श्राविका मोटर रेल आदि में बैठकर विहार कर सकता है या नहीं?

समाधान—यह तो मात्र हिंसा का उपकरण है। ऐसे उपकरण में बैठकर विहार करने का भाव उत्कृष्ट श्रावक को होता ही नहीं। ऐसा कार्य तो आरंभ त्यागी प्रतिमा धारी श्रावक भी न करे तो उत्कृष्ट श्रावक कैसे कर सकता है। यदि वह ऐसे उपकरण का उपयोग करे तो मानना चाहिये कि वह यथार्थ में उत्कृष्ट श्रावक नहीं हैं परन्तु मात्र नाम धारी है।

शंका—ऐलक, क्षुल्लक आदि टार्च लाइट का उपयोग कर सकता है? वर्तमान काल में बहुत उत्कृष्ट पद के धारी टार्च लाइट रखते हैं तो क्या यह उचित है?

समाधान—यह तो निरर्गल प्रवृत्ति है। टार्चलाइट तो हिंसा का ही उपकरण है और ऐसा उपकरण जब आरंभ त्याग प्रतिमा धारी नहीं रख सकता है तब ऐसा उत्कृष्ट त्यागी कैसे रखेगा।

संज्वलन कषाय—संज्वलन कषाय वाले आत्मा में त्रस और स्थावर जीवों को विराधने का भाव होता ही नहीं। हिंसा करने का भाव, झूठ बोलने का भाव, चोरी करने का भाव, मैथुन सेवन का भाव एवं किंचित भी परिग्रह रखने का भाव होता ही नहीं। इस कारण से जिसका बाह्य लिंग नग्न दिगम्बर है और अभ्यन्तर में भी किंचित कषाय करने का भाव नहीं है। जिसको अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषाय के अभाव में वीतराग दशा का अनुभव हो रहा है। मात्र वर्तमान में संज्वलन कषाय का वेदन है परन्तु इस कषाय के अभाव का पुरुषार्थ कर रहा है। संज्वलन कषाय वाला आत्मा जब गमन करता है तब चार हाथ जमीन सोधकर मौन सहित पुन्य भाव से चलता है कि उसके द्वारा कोई भी जीव का घात न हो जावे। इतना भूमि-सोधन का उपयोग निरन्तर रहता है। जिसके पास में मात्र जीव की दया के लिये मयूर पिच्छिका, शौच के उपकरण रूप जल रखने के लिये काठ का कमण्डलु और ज्ञान के

उपकरण के लिए केवल शास्त्र है जिसको उठाने में, रखने में भी महान दयामयी उपयोग है। जिसकी भाषा सत्य और हितमित वचन रूप निकलती है, जिसकी भाषा में न कड़ता हैं और न कठोरता देखने में आती है। प्रासुक शुद्ध आहार लेने रूप पाप भाव होता है परन्तु वहाँ भी समस्त प्रकार के दोष तथा अन्तराय टाल कर लेने के पुन्य भाव होते हैं। जो नियम से व्रतपरिसंख्यान नाम के तपरूपी पुन्य भाव से ही निकलते हैं वे कभी भी आहार की याचना करते नहीं। ऐसा शान्त निर्मल परिणाम हैं। जिसको टट्टी जंगल में जाने का ही भाव रहता है परन्तु अपने लिये बनाये हुए टट्टी घर में जाने का भाव होता ही नहीं है। जिसमें देव मनुष्य और तिर्यंच द्वारा किया गया उपसर्ग की सहन शक्ति प्राप्त हो चुकी है ऐसा मुनिराज सिंह वृत्ति से एकांकी जंगलों में ही विहार करता है, परन्तु जिस मुनि में इस प्रकार की शक्ति प्राप्त नहीं हुई है वह नियम से मुनि संघ के बीच में ही रहेगा, ऐसे जीव को एकांकी विहार करने का भाव होता ही नहीं है। जिसका प्रधान कार्य ध्यान और अध्ययन है। कभी-कभो शास्त्र लिखने में एवं शिष्य जन को धर्म के उपदेश देने का पुन्य रूप भाव होता है। जिसने इन्द्रियों और इंद्रियों के विषयों को जीत लिया है जिस

कारण से उसको जितेन्द्रिय कहा जाता है। जिसको इतना साम्यभाव है कि शत्रु-मित्र तृण और कंचन आदि को समान दृष्टि से देखता है। कभी-कभी शरीर में रोग के कारण आर्त्तध्यान रूप पाप भाव भी हो जाता है। ऐसे वीतरागी मुनि को लौकिक बातें करने का भाव होता ही नहीं, जिस कारण से वह गृहस्थों से दूर जंगलों में ही निवास करता है क्योंकि वह जानता है कि गृहस्थ का धर्म भक्ति करना है और भक्ति राग भाव है और मुझे राग को जीतना है, जिस कारण राग को जीतने वाले जीव के नगर, शहर आदि में रहने का भाव होता ही नहीं है। उसे भूमि में ही शयन करने का भाव होता है क्योंकि घास, चटाई आदि रखना तो परिग्रह है और वह परिग्रह से रहित है। जिस कारण नियम से भूमि पर शयन करता है।

शंका—मुनि घास, चटाई, काठ के तख्ते पर शयन कर सकता है ऐसा विधान मूलाचार ग्रन्थ में देखने में आता है तो वह किस अपेक्षा से किया गया है?

समाधान—जिस मुनि ने समाधिमरण स्वीकार किया है जिसका शरीर जीर्ण, शक्तिहीन हो गया है ऐसे मुनि को भूमि में शयन करने से कंकर आदि के कारण विकल्प न होने पावे इस ही आशय से यही कथन किया है। यह

कोई राजमार्ग नहीं है। यदि राजमार्ग होता तो मूल-गुणों में भूमि शयन नाम का अलग मूलगुण क्यों जिनेन्द्र देव की दिव्य-ध्वनि में आता? इससे सिद्ध होता है कि मुनि को भूमि में ही शयन करना चाहिये। तीन काल अर्थात् प्रातः, मध्याह्न और संध्याकाल में विशेष ध्यान में मग्न होने रूप सामायिक करने का भाव भी होता है यह व्यवहार सामायिक है अर्थात् पुन्य भाव है। जब शरीर और शरीर के अंगोपांग मोक्षमार्ग में साधक रहते हैं तब तक मुनि शरीर को आहार देने का भाव करता है परन्तु जब शरीर मोक्षमार्ग में साधक नहीं रहता है तब मुनि नियम से समाधिमरण करता है। जब तक संज्वलन कषाय रूप भाव हैं तब तक यह जोव पूर्ण वीतराग दशा को प्राप्त नहीं होता है। शीतकाल में जिसको नदी के तट पर कायोत्सर्ग रूप में रहने का भाव होता है, उष्णकाल में पर्वत के शिखर पर, मध्याह्न काल में आतापन योग करने का भाव होता है, और वर्षा ऋतु में जिसको पेड़ के नीचे परीषह सहन करने रूप पुण्य भाव होता है। इसी प्रकार के भाव संज्वलन कषाय में होते हैं।

योगबन्ध—मन, वचन और काय के निमित्त से क्रिया गुण की चेत्रान्तर रूप अवस्था का नाम योग बन्ध

है, लेश्या का नाम योग बन्ध है।

जड़बन्ध—जो कार्माण वर्गणा आश्रव में आत्मा के प्रदेश के नजदीक आई थी उसी वर्गणा का नाम प्रदेश है और उसी में से ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म रूप और इसकी उत्तर प्रकृति रूप उसी की अवस्था होना उसी को प्रकृति बन्ध कहते हैं। और ऐसी प्रकृति के आत्मा के प्रदेशों के साथ काल की मर्यादा रूप रहना इसी को स्थिति बंध कहते हैं और जब उस कर्म का उदय काल आता है तब आत्मा में जिस प्रकार के सुख-दुख का वेदन होता है उसी का नाम अनुभाग बन्ध है। ऐसी चार प्रकार की कार्माण वर्गणा की अवस्था हो जाना उसी का नाम जड़ बन्ध है। यह सब अवस्था जिस समय में आश्रव द्वारा कार्माण वर्गणा में आई उसी समय हो गई, इसमें समय भेद नहीं है।

संवर तत्व—संवर दो प्रकार का है। (१) चेतन संवर (२) जड़ संवर। जिसको शास्त्रीय भाषा में भाव संवर और द्रव्य संवर कहते हैं।

चेतन संवर—बन्ध के कारण का अभाव हो जाना उसी का नाम यथार्थ में संवर है। बन्ध मिथ्यात्व कषाय और योग से पड़ रहा था इन तीनों भावों का अभाव होना संवर है। गुणस्थान की परिपाटी में एक से तीन

गुणस्थान मिथ्यात्व की अपेक्षा से हैं। चार से दश गुण-स्थान कषाय की अपेक्षा से हैं। इसी प्रकार संवर भी क्रम पूर्वक अर्थात् प्रथम मिथ्यात्व का ही संवर होता है बाद में कषाय का ही संवर होता है और शेष में योग का ही संवर होता है। बाद में लघु काल में आत्मा में मोक्ष तत्व की प्राप्ति होती है। मिथ्यात्व का संवर किये बिना कषाय का संवर करने में आत्मा ने अनन्तकाल निकाल दिया परन्तु मिथ्यात्व का संवर हुए बिना कषाय का संवर होता ही नहीं यही ज्ञान न होने के कारण आत्मा मिथ्यात्व का संवर करने पर लक्ष देता नहीं है। यही संसार की जड़ है।

मिथ्यात्व संवर—आत्मा का श्रद्धा नाम का गुण जो अनादिकाल से मिथ्या दर्शन रूप परिणमन करता था उस गुण का शुद्ध परिणमन होना, जिसको सम्यक्-दर्शन कहते हैं उसी का नाम मिथ्यात्व का संवर है। मिथ्यात्व अवस्था में जीव की जो विपरीत श्रद्धा थी वही श्रद्धा सम्यग्दर्शन में सत्य श्रद्धा हो जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव में इस प्रकार की श्रद्धा होती है कि पुण्य से धर्म कभी भी नहीं होता है पुण्य नियम से बन्धका ही कारण है। पत्नी मेरी नहीं है मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। पिता मेरा नहीं है मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ।

माता मेरी नहीं है मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। शरीर मेरा नहीं है मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। मैं मनुष्य नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। मैं पुरुष नहीं हूँ मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। मैं स्त्री नहीं हूँ मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। मैं बालक नहीं हूँ मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। मैं युवा नहीं हूँ मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। मैं बुड्ढा नहीं हूँ मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। मैं देव नहीं हूँ मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। मैं तिर्यंच नहीं हूँ मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। मैं नारकी नहीं हूँ मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ।

मैं किसी भी जीव को बचा नहीं सकता हूँ सब जीव अपनी अपनी आयुकर्म से ही बचते हैं। मैं किसी जीव को मार सकता नहीं हूँ, सब जीव अपनी अपनी आयु पूरी होने से मरते हैं। मैं किसी जीव को सुख दुःख नहीं दे सकता हूँ सब जीव अपने अपने कर्म के उदय से ही सुखी दुःखी होते हैं। मुझको कोई जीव मार सकता या बचा सकता नहीं है क्योंकि शरीर का रहना और नाश होना आयु कर्म के आधीन है; परन्तु मेरा चैतन्य प्राण का नाश कभी भी नहीं होता है, मैं तो अनादि अनंत हूँ। मुझको कोई सुखी-दुखी कर नहीं

सकता है क्योंकि बाह्य सामग्री का मिलना साता असाता कर्म के उदय के आधीन है परन्तु सुख दुख का भाव करना मेरे पर ही निर्भर है।

अर्हन्त वीतराग देव या निर्गन्थ दिगम्बर मुनि गुरु भी मेरी आत्मा का कल्याण नहीं कर सकते हैं, क्योंकि मेरा चैतन्य प्राण से वे अत्यन्त भिन्न हैं मेरा कल्याण अकल्याण करने वाला मैं ही हूँ।

संसार के कोई भी पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं हैं; क्योंकि वह सब पदार्थ मेरी आत्मा से भिन्न हैं। दुःख का मात्र कारण रागादिक भाव हैं और सुख का कारण मात्र वीतराग भाव है। इस प्रकार के रुचि पूर्वक भाव का नाम मिथ्यात्व का संवर है।

कषाय का संवर—पर जीवों को मारने का भाव पाप भाव था और पर जीवों को बचाने का भाव पुण्य भाव था। यह दोनों भाव तो कषाय भाव हैं। पांच इन्द्रिय के विषय इकट्ठा करने का भाव तथा भोगने का भाव पाप रूप कषाय भाव है। अरहन्त वीतराग देव की भक्ति का भाव-पात्र जीव को आहार आदि दान देने का भाव, गुरु की भक्ति का भाव पुण्य भाव है वह भी बन्धन भाव हैं। अणुव्रत ग्रहण करने का भाव, महाव्रत ग्रहण करने का भाव, समिति का पालन करने का भाव, व्यवहार

मन-गुप्ति, वचन-गुप्ति और काय-गुप्ति का भाव, दश प्रकार के व्यवहार मुनि धर्म के भाव, द्वादश अनुप्रेक्षा भावना का भाव, एवं बाईस परिषह जीतने का भाव यह सभी भाव पुण्य भाव हैं वह भी बन्धन रूप कषाय भाव हैं। व्यवहार धर्म ध्यान रूप आज्ञाविचय अपायविचय विपाकविचय और संस्थानविचय रूप चिन्तवन रूप पुण्य भाव भी बन्धन रूप कषाय भाव हैं यह सब भावों का अभाव अथवा क्रोध-मान-माया-लोभ, हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, और नपुंसकवेद भाव का संपूर्ण प्रकार से अभाव हो जाना यही कषाय का संवर है। कषाय का संवर भाव ही सुख का कारण है या सुख रूप ही है।

योग का संवर—आत्म-प्रदेशों का कम्पन मिट जाना यही योग का संवर है। यह संवर चौदहवें गुण-स्थान के पहले समय में हो जाता है बाद में लघु काल में आत्मा सर्व कर्मों से रहित होकर अपने अनन्त गुणों की शुद्धता हो जाने से सिद्ध पद को पाता है या सिद्ध हो जाता है।

जड़ संवर—जिस प्रकार चेतन संवर तीन प्रकार का है उसी प्रकार जड़ संवर तीन प्रकार का नहीं है। जड़ संवर अनेक प्रकार का है। जितनी-जितनी कर्म प्रकृतियों

का बन्ध रुक जाना उसी का नाम जड़ संवर है जैसे पहले गुणस्थान के अभाव में १६ प्रकृतियों का बन्ध रुक जाना जड़ संवर है। दूसरे गुणस्थान के अभाव में पच्चीस प्रकृतियों का बन्ध रुक जाना दूसरा जड़ संवर है इत्यादि।

निर्जरा तत्व—निर्जरा दो प्रकार की होती है। (१) चेतन निर्जरा (२) जड़ निर्जरा। जिसको शास्त्रीय भाषा में भाव निर्जरा और द्रव्य निर्जरा कहते हैं।

चेतना निर्जरा—मिथ्यात्व का संवर हुए बाद ही चेतन निर्जरा का प्रारम्भ होता है। यथार्थ में विचारा जाय तो चारित्र गुण की अंश-अंश में शुद्धता होना उसी का नाम निर्जरा है। अथवा आत्मा के गुणों की अंश २ में शुद्धता होना निर्जरा है। श्रद्धा गुण में अंश २ में शुद्धता नहीं होती है। क्योंकि श्रद्धा का कार्य लक्ष्य बिंदु प्रतीति-विश्वास आदि है और लक्ष्य बिंदु अनेक प्रकार का नहीं होता है इसलिये श्रद्धा में निर्जरा नहीं होती है। चाहे तो श्रद्धा असत्य हो चाहे श्रद्धा सत्य हो। इसी प्रकार योग गुण में भी चेतन निर्जरा नहीं होती है परन्तु एक साथ में इसमें शुद्धता आती है चाहे तो योग गुण कम्पन रूप हो चाहे अकम्प रूप हो। परन्तु चारित्र गुण में इच्छाओं का एक साथ में नाश नहीं हो सकता है अपितु अंश २ में नाश होता है इसलिये सिद्ध होता है

कि यथार्थ में निर्जरा चारित्र गुण में ही होती है। अर्थात् अंश २ में इच्छा का अभाव होना इसी का नाम चेतन निर्जरा है।

उपवास आदि बाह्य और प्रायश्चित आदि अभ्यन्तर तप से निर्जरा नहीं होतो है परन्तु इससे तो मात्र पुण्य बन्ध पड़ता है क्योंकि तप में अर्थात् अनशन में इच्छा का अभाव नहीं होता है परन्तु इच्छा दब जाती है अर्थात् आज आहार नहीं करना है परन्तु कल करने का भाव है। इससे एक दिन के लिये इच्छा दब गई है परन्तु इच्छा का अभाव नहीं हुआ है। जहाँ २ इच्छा दब जाती है वहाँ २ नियम से पुण्य बन्ध पड़ता है और जहाँ २ इच्छा का अभाव होता है वहाँ २ निर्जरा है।

शंका—उपवास में एक दिन के लिये इच्छा का निरोध हुआ है वहाँ निर्जरा कैसे नहीं मानी जायगी? शास्त्र में भी लिखा है कि 'तपसा निर्जरा च'।

समाधान—तप का लक्षण इच्छा निरोध कहा है वहां इच्छा निरोध का अर्थ इच्छा दबाना नहीं कहना चाहिये परन्तु इच्छा का जीवन भर अभाव हो जाना इसी का नाम निर्जरा है। जैसे एक सम्यग्दृष्टि आत्मा ने ५० हरी वनस्पति खाने का नियम कर बाकी की हरी वनस्पतिकाय का जीवन भर त्याग कर दिया। जो ५०

वनस्पति रखी है वे सभी सहज ही में मिलती नहीं हैं जिससे उसने विचार किया कि इतनी हरी तो मिलती नहीं है, तब बिना प्रयोजन इतनी हरी की वासना क्यों रखनी ? यह समझ कर उसने उन्हीं ५० हरी वनस्पतियों में से मात्र १५ खाने की रखकर बाकी के ३५ हरी वनस्पति का अमुक मास के लिये त्याग कर दिया। अब सोचिए जितनी हरितकायिक का उसने जीवन भर त्याग कर दिया है वही तो निर्जरा का भाव है और जो ३५ हरितकायिक का अमुक मास के लिये त्याग किया है वह तो पुण्य भाव है; क्योंकि उस भाव में इतने दिन बाद यह वनस्पति खाने का भाव है। इससे सिद्ध हुआ कि वह वनस्पति खाने के भाव का अभाव नहीं हुआ है परन्तु अमुक मास तक वह भाव दबा हुआ है, उस दबे हुये भाव का नाम चेतन पुण्य भाव है और जो १५ हरितकायिक खा रहा है वह तो पाप भाव है। इससे सिद्ध हुआ कि अनशन आदि भावों में इच्छा अमुक दिन तक दब जाती है परन्तु इच्छा का अभाव नहीं होता है। इसलिये सिद्ध हुआ कि अनशनादि तप से निर्जरा नहीं होती है परन्तु पुण्य बन्ध पड़ता है।

जब तक आत्मा में मिथ्यात्व का अभाव रूप सम्यग्दर्शन भाव रूप संवर नहीं होता है तब तक आत्मा में

चेतन निर्जरा नहीं होती है। मिथ्यात्व का संवर हुये पहले जितनी इच्छाओं का मिथ्यादृष्टि जीव जीवन भर के लिये अभाव करता है उसी अभाव रूप भाव से भी मिथ्यादृष्टि को निर्जरा नहीं होती है परन्तु मात्र पुण्य बन्ध पड़ता है। इसी से तो कहा जाता है कि मिथ्यादृष्टि का तप हस्थि-स्नान जैसा है क्योंकि सम्यग्दर्शन हुए बाद ही निर्जरा आरंभ होती है यही तो सम्यग्दर्शन की महिमा है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तप से या दान से नहीं होती है परन्तु मात्र ज्ञान से ही होती है। मिथ्यादृष्टि लाखों करोड़ों वर्ष तप तपे; परन्तु इससे मिथ्यात्व का नाश नहीं होता है, मात्र पुण्य बन्ध पड़ता है। जैसे नारायण लक्ष्मण की पत्नी विशल्या ने पूर्व भव में महान तपश्चर्या की थी। अर्थात् एक मास का उपवास एक दिन पारणा इसी प्रकार एक लाख मास का उपवास किया। इतने महान तप के फल में इसको यह ऋद्धि प्राप्त हुई कि इसके स्नान के जल से (गंधोदक से) मनुष्य के लगी हुई दैवीशक्ति भी चली जाती थी। जिस प्रयोग से इसने नारायण लक्ष्मण को मूर्च्छा में से दैवी शक्ति से बचा लिया, परन्तु इतने तप में यह शक्ति प्राप्त न हुई कि विशल्या के मिथ्यात्व भावको नाश कर सके।

यदि विशल्या के मिथ्यात्व का नाश होता तो वह स्त्री पर्याय में कैसे जन्म लेती ? इससे सिद्ध हुआ कि मिथ्यात्व का नाश तप से नहीं होता है परन्तु ज्ञान से होता है। इसी कारण विशल्या को इतने तप से भी निर्जरा न हुई परन्तु मात्र पुण्य का ही बन्ध हुआ।

सम्यग्दर्शन हुए बाद इच्छा का अभाव होना इसी का नाम चेतन निर्जरा है।

जड़ निर्जरा—आत्मा के साथ में जो पौद्गलिक ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का काल की मर्यादा पूरी होने से अथवा कालकी मर्यादा पूरी हुए बिना अंश अंश में आत्मा से अलग हो जाना इसी का नाम जड़ निर्जरा है।

जड़ निर्जरा में दो प्रकार का भेद है। (१) सविपाक निर्जरा (२) अविपाक निर्जरा।—

सविपाक निर्जरा—इसको कहते हैं कि ज्ञानावरणादि पौद्गलिक द्रव्य कर्मों का काल की मर्यादा पूर्ण होने से आत्म-प्रदेशों से खिर जाना उसी का नाम सविपाक निर्जरा है। यह निर्जरा सर्व संसारी जीवों को समय समय में हो रही है।

अविपाक निर्जरा—जो ज्ञानावरणादि पौद्गलिक द्रव्य कर्मों का जिनकी काल की मर्यादा पूरी न हुई है परन्तु आत्मा के विशुद्ध भावों से उन कर्मों के काल

की मर्यादा के पूर्व अंश २ में आत्म-प्रदेशों से खिर-जाना उसी का नाम अविपाक निर्जरा है। यह निर्जरा मिथ्यादृष्टि जीवों के भी होती है। जैसे जिस काल में मिथ्यादृष्टि के प्रायोग लब्धि रूप परिणाम होता है उसी काल में सत्तर कोड़ा कोड़ी के कर्मों का बन्ध टूटकर अन्त कोड़ा कोड़ी में आ जाता है। यह तो अविपाक निर्जरा है। इस निर्जरा से भी आत्मा में शान्ति नहीं मिलती है। यथार्थ में निर्जरा समयग्दर्शन पूर्वक ही होवे वही निर्जरा शान्ति का कारण है।

मोक्ष तत्व—मोक्ष दो प्रकार का है। (१) चेतन मोक्ष (२) जड़ मोक्ष। जिसको शास्त्रीय भाषा में भाव मोक्ष और द्रव्य मोक्ष कहते हैं।

चेतन मोक्ष—आत्मा के सम्पूर्ण गुणों की शुद्धता हो जाना उसी का नाम चेतन मोक्ष है।

आत्मा और बन्ध का जुदा करना मोक्ष है। बन्ध का कारण आत्मा के श्रद्धा गुण-चारित्र गुण और क्रिया गुण की विकार परिणति है। उन गुणों का शुद्ध परिण-मन हो जाना वही मोक्ष का यथार्थ कारण है।

बंध के स्वरूप का ज्ञान मात्र से ही मोक्ष होता है, अर्थात् बंध का स्वरूप जानना ही मोक्ष का कारण है, ऐसा निश्चयाभासी वेदान्त आदि जीव मानते हैं। उनका ऐसा मानना मिथ्या है। क्योंकि ऐसा अनुमान का प्रयोग

है कि कर्म से बन्ध पुरुष के स्वरूप का ज्ञान मात्र ही मोक्ष का कारण नहीं है क्योंकि मात्र यह जानना कर्म से छूटने हेतु नहीं है। जैसे बेड़ी आदि से बन्ध पुरुष के उस बेड़ी आदि के बंधन के स्वरूप को जानना मात्र ही बेड़ी आदि कटने का कारण नहीं है, उसी तरह कर्म का बंधन का स्वरूप जानने मात्र से कर्म बन्धन से नहीं छूटता। बंध की चिन्ता भी बन्ध से छूटने का अर्थात् मोक्ष का कारण है—यह मानना भी मिथ्या है, यहां भी अनुमान का प्रयोग ऐसा है कि कर्म बन्धन कर बंधे हुए पुरुष के उस बन्ध की चिन्ता का जो प्रबन्ध है कि यह बंध कैसे छूटेगा? इस रीति से मन को लगाये वह भी बन्ध के उच्च भाव रूप मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि यह चिन्ता का प्रबन्ध से छूटने का हेतु नहीं है। जैसे बेड़ी (सांकल) से बन्धा हुआ पुरुष उस बन्ध की चिन्ता ही किया करे और छूटने का उपाय न करे तो उस बेड़ी आदि बन्धन से वह पुरुष छूट नहीं सकता। उसी तरह कर्म बन्धन की चिन्ता मात्र से मोक्ष नहीं है। कर्म बंधन को छेदना मात्र मोक्ष का कारण है। जैसे बेड़ी (सांकल) आदि द्वारा बन्धे पुरुष को सांकल का बन्ध काटना ही छूटने का कारण है। ऐसे जो पुरुष आत्मा के निश्चय कर निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र तो आत्मा का

स्वभाव और उस आत्मा के विकार के करने वाला बन्धों का स्वभाव इन दोनों को विशेष कर जानकर उस बंधनों से विरक्त करता है वही पुरुष समस्त कर्मों का नाश कर मोक्ष को प्राप्त होता है।

जड़ मोक्ष—अनादिकाल से जो ज्ञानावरणादि पौद्गलिक द्रव्य-कर्म आत्मा के साथ में एक क्षेत्र में बन्धन रूप से हैं इसी का आत्म-प्रदेशों से अत्यन्त अभाव हो जाना अर्थात् पुद्गल की उस कर्म रूप अवस्था का मिट जाना वही जड़ मोक्ष है।

इस प्रकार सप्त तत्त्व का स्वरूप पूर्ण हुआ। सप्त तत्त्व में जीव तथा अजीव तत्त्व तो ज्ञेय रूप हैं, आश्रव एवं बन्ध तत्त्व हेय रूप हैं और संवर, निर्जरा तथा मोक्ष तत्त्व उपादेय रूप हैं।

सर्व प्रथम जीव को मोक्षमार्ग में आने के लिये सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र का विश्वास एवं ज्ञान करना चाहिये। इसके ज्ञान बिना जीव गृहीत मिथ्यात्व का नाश नहीं कर सकता है। वह गृहीत मिथ्यात्व, अगृहीत मिथ्यात्व को पुष्ट करने वाला है। इसलिये इसका स्वरूप जानना बड़ा ही जरूरी है। सामान्य से अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा से हमारी आत्मा में और देव की आत्मा में किंचित् फर्क नहीं है; क्योंकि दोनों चेतन

स्वरूपी हैं। जितना गुण हमारी आत्मा में है उतना ही गुण देव की आत्मा में है। परन्तु हमारी पर्याय-अवस्था में और देव की पर्याय-अवस्था में महान् अन्तर है। इसका यथार्थ ज्ञान किये बिना देव में भक्ति कैसे हो सकती है? क्योंकि भक्ति का स्वरूप गुण में अनुराग है, जब देव में क्या गुण प्रगट हुए हैं इसका ज्ञान किए बिना देव की भक्ति मात्र राग में राग से ही होगी; परन्तु गुण में अनुराग रूप भक्ति नहीं होती है, और गुण में अनुराग रहित भक्ति यथार्थ में भक्ति नहीं है। इसलिये देवादिक का स्वरूप प्रथम जानने की बड़ी आवश्यकता है। देव का स्वरूप भाव की अपेक्षा से, कर्म की अपेक्षा से, मार्गणा स्थान की अपेक्षा से इसी प्रकार अनेक प्रकार से जानने से श्रद्धा विशेष निर्मलता के साथ दृढ़ होती है। जिसकी श्रद्धा यथार्थ नहीं है वह जीव मोक्ष मार्ग में आ नहीं सकता है, इसलिये सर्व प्रथम अपनी श्रद्धा मजबूत करनी चाहिये।

अर्हंत-देव का स्वरूप—भाव से अर्हंत देव का यह स्वरूप है कि जिसने मनुष्य गति में पंचेन्द्रिय जाति के साथ त्रस पर्याय पाई है, जिसकी आत्मा के भीतर क्षायक सम्यग्दर्शन है, जिसमें यथाख्यात चारित्र रूप वीतराग भाव हैं, जिसने क्षायक केवलज्ञान तथा केवल दर्शन की

प्राप्ति की है, जिसे अनन्त वीर्य की प्राप्ति हुई है, जिसे अनन्त सुख प्राप्त हुआ है, जिसका शरीर परम औदारिक है, जिसमें सप्त धातु रूप अपवित्र वस्तु नहीं है जिसकी वाणी में सहज सत्य तथा अनुभव रूप वचन वर्गणा में द्वादश अंग अर्थात् संपूर्ण द्रव्य श्रुत रूप समय-समय में खिर रही है, जिसके द्वारा भव्य जीव अपना कल्याण कर रहा है, जो देव १८ अठारह दोषों क्षुधा, पिपासा, रोग, जरा आदि से रहित है जिस देव ने अष्ट प्रकार के पौद्‌गलिक ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों में से चार कर्म जो घातिया कर्म कहलाते हैं, उनका अभाव किया है, जिसने कर्मों की १४८ उत्तर प्रकृतियों में से ६३ कर्म प्रकृतियों का नाश कर दिया है, जिसके पास में चार अघाति कर्म जिनकी ८५ प्रकृति है वही मात्र सत्ता में है तो भी परमात्मा के अनन्त सुख आदि गुणों में विघ्न देने के लिए शक्तिहीन है। ऐसे ही देव की भक्ति करने योग्य है। वही संसारी आत्मा को कल्याण करने में निमित्त मात्र है। वही देव आराधना करने योग्य है।

शंका—जिस आत्मा ने अनन्त ज्ञान दर्शन वीर्य-सुख प्राप्त किया है वह आत्मा संसार में क्यों रहता है? क्या अघातिया कर्मों ने उसे रोक रखा है?

समाधान—नहीं, आत्मा में अनन्त गुण शक्तियां

हैं, और वे सब गुण स्वतन्त्र हैं, कोई भी गुण किसी भी गुण के आधीन नहीं है, सर्व गुण अपने २ उपादान से ही परिणमन करते हैं। ऐसा वस्तु का स्वभाव है। इन सब गुणों की शास्त्रीय भाषा में दो भेद रूप कहा गया है। (१) भाववती शक्ति (२) क्रियावती शक्ति। अर्हन्त वीतराग देव की भाववती शक्तियां शुद्ध परिणमन कर रही हैं, जिस कारण से तो अर्हन्त परमात्मा में अनन्त ज्ञान आदि अनंत चतुष्टय प्राप्त हुआ है, परन्तु अर्हन्त परमात्मा की क्रियावती शक्तियां अभी भी अशुद्ध परिणमन कर रही हैं जिससे भगवान का मोक्ष नहीं हुआ है। अघातिया कर्मों ने भगवान को रोक रखा है, यह कहना मात्र उपचार है—निमित्त का कथन है। भगवान अरहंत की क्रियावती शक्तियों में योग गुण, निष्क्रयत्व गुण, अव्याबाधगुण, अवगाहनगुण, सूक्ष्मत्वगुण, अगुरुलघुगुण, प्रदेशत्वादि अनेक गुण हैं। जब इन गुणों का शुद्ध परिणमन होगा तब अर्हन्त परमात्मा सिद्धावस्था को प्राप्त होंगे।

मार्गणा द्वारा अर्हन्त देव का स्वरूप–

मार्गणा द्वारा अर्हन्त देव का किस प्रकार का स्वरूप चितवन करना चाहिये या उनके गुणों में अनुराग करना चाहिये यह विचारना चाहिये। मार्गणा चौदह हैं। (१)

गतिमार्गणा (२) इन्द्रियमार्गणा (३) कायमार्गणा (४) योग मार्गणा (५) वेद मार्गणा (६) कषाय मार्गणा (७) ज्ञान मार्गणा (८) संयम मार्गणा (९) दर्शन मार्गणा (१०) लेश्या मार्गणा (११) भव्यत्व मार्गणा (१२) सम्यक्त्व मार्गणा (१३) संज्ञी मार्गणा (१४) आहार मार्गणा।

गति मार्गणा—गति चार हैं—मनुष्यगति, देवगति, तिर्यंचगति और नरकगति। यह चारों पुद्गल की अवस्था संयोग रूप हैं। हे भगवन्! आपको भी मनुष्य-गति मिली है जब कि मुझे भी मनुष्यगति मिली है, पर मैं पराधीन हूँ।

इन्द्रिय मार्गणा—इन्द्रियाँ पाँच होती हैं। (१) स्पर्शन (२) रसाना (३) घ्राण (४) चक्षु (५) श्रोत्र इंद्रिय। यह सब पुद्गल की ही रचना है। हे प्रभो आपको भी पाँच इंद्रिय मिली हैं परन्तु आपकी इन्द्रियां निकम्मी अकार्यकारी हैं नाम मात्र हैं, क्योंकि आप तो अपने सर्व आत्म प्रदेशों से लोक के चराचर समस्त पदार्थों को एक समय में बिना इन्द्रियों की सहायता से देखते हैं किन्तु मैं इन्द्रियों द्वारा स्थूल पुद्गल पदार्थों को स्थूल रूप से देखता हूँ, इसलिए मैं पराधीन हूँ।

काय मार्गणा—काय छह होती हैं। (१) पृथ्वीकाय

(२) अपकाय (३) तेजकाय (४) वायुकाय (५) वनस्पतिकाय (६) त्रसकाय। इन सब कायों की रचना पुद्गल द्रव्य की है। हे भगवन्! आपको त्रसकाय मिली है और मुझे भी त्रसकाय मिली है, परन्तु आपकी काय परम औदारिक है जिसमें त्रस निगोद राशि नहीं है, जब मेरी काय सप्त धातु से भरी हुई, असंख्यात त्रस निगोद राशि से भरी हुई है, जो महान अशुचिमय है।

योग मार्गणा—योग १५ हैं। चार वचनयोग—(१) सत्य वचन (२) असत्य वचन (३) उभय वचन (४) अनुभय वचन। चार मनोयोग—(१) सत्य (२) असत्य (३) उभय (४) अनुभय मन योग। सात काय योग—(१) औदारिक काय योग (२) औदारिक मिश्रकाय योग (३) वैक्रियिक काय योग (४) वैक्रियिक मिश्र योग (५) आहारक काय योग (६) आहारक मिश्र योग (७) कार्माण काय योग। इस प्रकार योग १५ हैं। यह पुद्गल द्रव्य की संयोगी अवस्था है। हे प्रभो! आप में दो वचन योग (१) सत्य वचन योग (२) अनुभय वचन योग है। इन दोनों वचनों द्वारा सहज स्याद्वाद रूप वचन वर्गणा कर्म के उदय के कारण सपूर्ण द्रव्य श्रुत समय समय खिर रही है, जिसको जिज्ञासु जीव सुनकर अपना कल्याण कर रहे हैं, और एक औदारिक काय

योग है, जब मेरे में चार वचन योग हैं चार मनोयोग हैं और एक औदारिक काय योग है इस प्रकार मिलकर नौ योग हैं। हे प्रभो! मेरे वचन योग और मनोयोग द्वारा मुझको कर्मों का बन्ध पड़ रहा है, क्योंकि मैं राग सहित बोल रहा हूँ जब आपके वचन योग में आपको कर्मों का बन्ध नहीं है क्योंकि आप तो वीतराग हो अर्थात् राग रहित आपकी वाणी खिर रही है।

वेद मार्गणा—वेद तीन हैं। (१) स्त्रीवेद (२) पुरुषवेद (३) नपुंसकवेद। ये तीनों वेद भाव वेद हैं अर्थात् स्त्री के साथ, पुरुष के साथ और स्त्री पुरुष दोनों के साथ रमण करने का भाव है। हे भगवन्! आप में इन तीनों वेदों के भाव का अभाव है अर्थात् आपने काम वासना को नाश कर दिया है कि जब मुझमें तीनों वेद रूप भाव मौजूद हैं इसीलिए मेरी आत्मा काम-वासना से निरन्तर जल रही है।

कषाय मार्गणा—कषाय २५ हैं। (१) अनन्तानुबंधी (२) अप्रत्याख्यान (३) प्रत्याख्यान (४) संज्वलन। इनमें से प्रत्येक के क्रोध, मान, माया और लोभ रूप आत्मा के परिणाम मिल कर १६ एवं नौ कषाय अर्थात् (१) हास्य (२) रति (३) अरति (४) भय (५) शोक (६) जुगुप्सा (७) स्त्रीवेद भाव (८) पुरुषवेद भाव (९) नपुंसकवेद भाव। यह सब मिलकर २५ कषाय के भाव हैं।

हे प्रभो ! आप इन समस्त कषाय भावों का नाश कर वीतराग दशा रूप अनन्त सुख के भोक्ता बने हो जब कि मेरी आत्मा में वर्तमान में प्रत्याख्यान संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ तथा नौ कषाय मिलकर सत्रह कषाय भाव हैं जिनसे मेरी आत्मा महान आकुलता का ही अनुभव कर रही है।

ज्ञान मार्गणा—ज्ञान ८ प्रकार का होता है। (१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्याय-ज्ञान (५) केवलज्ञान तथा तीन कुज्ञान (१) कुमतिज्ञान (२) कुश्रुतज्ञान (३) कुअवधिज्ञान। इस प्रकार ज्ञान की ८ आठ अवस्था होती हैं। हे भगवन् ! आप में केवलज्ञान है जिससे आप लोकालोक के समस्त चल अचल पदार्थों को त्रिकालवर्त्ती अनन्त पर्यायों को अपने आत्मा के समस्त प्रदेशों से प्रत्यक्ष देख रहे हो। जब मैं केवल साधारण मति श्रुत ज्ञान से इंद्रियों द्वारा देख रहा हूँ वे भी इतने हीन हैं कि पांच मिनट की बात की भी धारणा ज्ञान में रहती ही नहीं है जिससे महान दुःखी हूँ।

संयम मार्गणा—संयम ७ हैं। (१) असंयम (२) संयमासंयम (३) सामायिक संयम (४) छेदोपस्थापना संयम (५) परिहार विशुद्धि संयम (६) शूक्ष्मसांपराय संयम (७) यथाख्यात संयम। यह सब चारित्र गुण की पर्याय

हैं। हे प्रभो! आप में मात्र यथाख्यात संयम है जिस कारण से आपको वीतराग दशा प्राप्त हो रही है जिससे आप अनाकुल आत्मिक सुख का अनुभव कर रहे हो और मुझे केवल संयमासंयम भाव की वर्तमान में प्राप्ति हुई है जिससे भगवन् मैं कषाय से महा दुःखी हूँ।

दर्शन मार्गणा—दर्शन ४ हैं। (१) चक्षु दर्शन (२) अचक्षु दर्शन (३) अवधि दर्शन (४) केवल दर्शन। ये चारों दर्शन गुण की अवस्था है। हे भगवन्! आप में मात्र केवल दर्शन है जिससे आप समस्त संसार के पदार्थों को अखण्ड रूप से सामान्य अवलोकन से ही अपने समस्त आत्म-प्रदेशों से निरपेक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष कर रहे हो जब मेरी आत्मा में चक्षु दर्शन तथा अचक्षु दर्शन रूप दर्शन चेतना की पर्यायें प्रगट हुई हैं वह भी महान पराधीन इंद्रियों के बिना देख नहीं सकता हूँ. उसमें भी स्थूल पुद्गल को ही देख सकता हूँ, जिससे महान् दुःखी हूँ।

लेश्या मार्गणा—लेश्या छह होती हैं। (१) कृष्ण-लेश्या (२) नील लेश्या (३) कापोत लेश्या (४) पीत लेश्या (५) पद्म लेश्या (६) शुक्ल लेश्या। यह आत्मा की क्रिया गुण की अवस्था का नाम है। हे प्रभो! आप में कहने मात्र का परम शुक्ल लेश्या है जो आपको

किंचित् मात्र दुख का कारण नहीं है, मेरे में तीन शुभ लेश्या हैं जिससे मेरी आत्मा पुण्य पाप भाव प्रवृति कर रहा है जिससे मैं महान् दुःखी हूँ। लेश्या दुःख का कारण नहीं है परन्तु पुण्य पाप के भाव दुःख के कारण हैं।

भव्यत्व मार्गणा—भव्यत्व मार्गणा दो प्रकार की है। (१) भव्यत्व (२) अभव्यत्व। ये दोनों आत्मा के श्रद्धा-गुण की सहज स्वाभाविक शक्ति रूप पर्याय अनादिकाल की है। जिस कारण उसी को पारणामिक भाव कहा जाता है। हे भगवन्! आप में भव्यत्व भाव शक्ति रूप है जिसका विकल्प भी नहीं है जिससे आप सुखी हो— मेरे में भव्यत्व भाव शक्ति रूप है परन्तु उनका विकल्प उठता है जिससे मैं दुःखी हूँ।

सम्यक्त्व मार्गणा—यह मार्गणा छह प्रकार की हैं। (१) मिथ्यात्व (२) सासादन (३) मिश्र (४) उपशम (५) क्षयोपशमिक (६) क्षायिक मार्गणा। ये सब आत्मा के श्रद्धा गुण का परिणाम है। हे भगवन्! आप में क्षायक सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है जब मेरे में क्षयोपशम सम्यक्त्व है जो महान हीन स्थिति वाला है जिसमें मुझे शूक्ष्म चल मल अगाढ नाम का दोष लगता है। वह इस प्रकार का मलीन होने से श्रेणी पर आरूढ़ होने की मुझ में शक्ति प्राप्त होती ही नहीं है कि जिससे संपूर्ण अनन्त

सुख की प्राप्ति कर सकूं ।

संज्ञी मार्गणा—यह मार्गणा दो प्रकार की है। (१) संज्ञी (२) असंज्ञी। यह संज्ञीपणा पुद्गल की पर्याय है। जो ज्ञान करने में सहायक होती है इसके बिना यथार्थ ज्ञान करने में आत्मा छद्मस्थ अवस्था में शक्तिमान होता ही नहीं है। हे प्रभो! आपके तो चायक ज्ञान की प्राप्ति हो जाने से आप तो संज्ञी असंज्ञी के विकल्प से परे हो चुके हो, परन्तु मेरे में चयोपशम ज्ञान होने से मैं संज्ञी हो रहा हूँ जिससे महान पराधीन हूँ। यदि यह पौद्गलिक मन बिगड़ जावे तो मैं प्रभु कोड़ी की कीमत का हो जाता हूँ, क्योंकि ज्ञान मेरे में होते हुए भी मैं यथार्थ में इस द्रव्य मन बिना विचार कर ही नहीं सकता। इसी कारण तो मेरे में ज्ञान होते हुए भी अज्ञान कहा जाता है क्योंकि ज्ञान इसी का नाम है जो लोक के समस्त ज्ञेय पदार्थों को एक ही समय में देखे। परन्तु मेरा ज्ञान महा हीन पराधीन असंख्यात समय में उपयोग में आता है। ऐसा हीन है जिससे महान पराधीन हूँ।

आहारक मार्गणा—यह मार्गणा दो प्रकार की है। (१) आहारक (२) अनाहारक। यह तो पुद्गल की अवस्था है। हे प्रभो! अभी आप भी आहारक हैं क्योंकि आपके पौद्गलिक परम उदारक शरीर भी समय-समय में

अनन्त पुद्गल वर्गणा ग्रहण करता है यद्यपि आपको कवलाहार नहीं है जिससे आप क्षुधा आदि महान दुःखों से मुक्त हो। परन्तु मैं भी आहारक हूँ अर्थात् मेरा सप्त मलीन धातु मय औदारिक शरीर भी समय-समय में अनन्त पौद्गलिक वर्गणा ग्रहण करता है, इतना नहीं परन्तु मैं तो कवलाहार भी लेता हूँ क्योंकि क्षुधा की पीड़ा सहन न होने से उसके बिना नहीं चल सकता इसलिए क्षुधा पीड़ा से महान दुःखी हूँ और आप अनन्त सुख के भोक्ता हैं।

इसी तरह पृथक २ अपेक्षा से देव का निर्णय जरूर करना चाहिये। क्योंकि हमको भी एक दिन देव बनना है। जिसको देव का द्रव्य गुणपर्याय का ज्ञान नहीं है वह आत्मा मोक्षमार्गी नहीं हो सकता है। इसलिये सत्यार्थ देव का स्वरूप द्रव्य गुण पर्याय द्वारा जानकर पक्का श्रद्धालु बनना चाहिये। यही बात भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने भी प्रवचनसार के ज्ञान तत्व अधिकार में गाथा ८० में कही है कि—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥

अर्थ—जो अर्हंत को द्रव्य गुण पर्याय रूप से

जानता है वह अपनी आत्मा को जानता है, और उसी का मोह अवश्य नाश को प्राप्त हो जाता है।

यहाँ प्रसंगवश कुछ अभिषेक के संबन्ध में लिख रहा हूँ। अर्हंत सर्वज्ञ वीतराग देव का यथार्थ में अभिषेक होता ही नहीं है। समवशरण में जो बारह सभायें हैं उनके मध्य भाग में उनसे बहुत ऊँचे अर्हंत भट्टारक तीन वेदी के ऊपर कमल पुष्प के भी ऊपर विराजमान हैं। वहाँ प्रथम तो किसी के जाने का अधिकार नहीं है। दूसरे वहां अभिषेक होता ही नहीं है। अभिषेक तो नियम से सरागी आत्मा के गृहस्थ अवस्था में ही होता है। जब गृहस्थ मुनि दीक्षा ग्रहण करता है तब स्नानादि से स्वयं विरक्त हो जाता है, तब वीतराग अवस्था में अभिषेक मानना महान विपरीतता है। गृहस्थ की हीन कक्षा में जब अवलम्बन की आवश्यकता रहती है तब अवलम्बन के लिए वीतराग सर्वज्ञ की प्रतिमा स्थापित की जाती है। यह वीतराग प्रतिमा मलीन न हो जावे, उसकी सौम्यावस्था बनी रहे, उस प्रतिमा पर सूक्ष्म जीव जन्तु व धूल-कण का संचय न होने पाये इस उद्देश्य से प्रतिमा का प्रक्षालन किया जाता है। यदि प्रतिमा स्वच्छ नहीं होगी तो हमारे परिणामों को अधिकाधिक निर्मल बनाने में बाधा हो सकती है। इस दृष्टि से प्रतिमा को स्वच्छ

रखना प्रत्येक पुजारी का परम कर्तव्य हो जाता है। प्रतिमा जितनी अधिक सौम्य व वीतरागता पूर्ण होगी उतना ही दर्शक व पूजक का भाव निर्मल व अधिक सौम्य व वीतरागयुक्त हो सकता है।

इन्द्र ने भगवान का द्रव्य निक्षेप से अभिषेक किया था जो भगवान के जन्म के समय करना देवों का नियोग ही है। इस अभिषेक में मनुष्य जा नहीं सकता है। कारण कि सुमेरू पर्वत लाख योजन ऊँचा है और ७९० सात सौ नव्वे योजन ऊंचा जाने में वैक्रियिक शरीर की जरूरत पड़ती है कारण कि इतना ऊँचा औदारिक शरीर जा नहीं सकता है। वहाँ की हवा औदारिक शरीर के अनुकूल नहीं है जिससे वहाँ जाने का मनुष्य का अधिकार एवं शक्ति भी नहीं है जिससे इन्द्र मायामयी बालक माता के पास में रख कर तीर्थङ्कर को सुमेरू पर्वत पर अभिषेक के लिये ले गये थे। यदि मनुष्य वहां जा सकते हैं तो कम से कम भगवान के माता पिता को तो जरूर वे ले जाते, परन्तु ऐसा न कर बालक को ही केवल चोरी छुपी से ले गए। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य का औदारिक शरीर वहां जा ही नहीं सकता। भगवान के पुण्य के अतिशय के कारण उनका औदारिक शरीर वहाँ जाने में बाधा नहीं है।

अभिषेक करने का भाव पुण्य भाव है। सरागी जीवों को ऐसा पुण्य का भाव आ सकता है कि मैं भी भगवान का अभिषेक करूँ। यही सोचकर सरागी जीव उसी वीतराग मुद्रा प्रतिमा में बालक की स्थापना कर अपने में भी इन्द्र की स्थापना कर अभिषेक रूप भाव कर सकता है। परन्तु अभिषेक करते समय ऐसा भाव नहीं होना चाहिये कि मैं मनुष्य हूँ। इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्य को अभिषेक करने का अधिकार नहीं है केवल इन्द्र को ही अभिषेक करने का अधिकार है। इसी प्रकार मनुष्य भी अभिषेक कर सकता है परन्तु ऐसी मिथ्या कल्पना न करे कि मैं वीतराग देव का अभिषेक कर रहा रहा हूँ परन्तु वीतराग की कुमार अवस्था का अभिषेक कर रहा हूँ वह भी इन्द्र की अपने में स्थापना करके ही कर सकता है यह भी पुण्य भाव है।

निर्ग्रन्थ गुरु का स्वरूप—जो आत्मा नग्न दिगम्बर रूप जिसने १४ प्रकार के अभ्यन्तर परिग्रह का श्रद्धान रूप त्याग किया है, परन्तु आचरण रूप जिसको मात्र संज्वलन कषाय नौ कषाय रूप भाव हैं और बाह्य में १० दस प्रकार परिग्रह का त्याग है अर्थात् जिसके पास एक सूत मात्र परिग्रह नहीं है जिसका शरीर तुरन्त के जन्मे हुये बालक के माफिक नग्न एवं विकार रहित है, ऐसा

निश्चय-व्यवहार रूप रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र युक्त है वही तो निश्चय से गुरु हैं। परन्तु जिसने अनंतानुबन्धी आदि कषाय का अभाव नहीं किया है, परन्तु व्यवहार से नग्न दिगम्बर मुद्रा धारी मुनि है जो पंच महाव्रत पंच समिति और तीन गुप्तिका व्यवहार जिन आज्ञा अनुकूल पालन करता है वह व्यवहार गुरु है। वह गुरु कैसा है जो व्यवहार रत्नत्रय युक्त है, जो दश प्रकार के मुनिधर्म अर्थात् उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव सत्य शौच संयम तप त्याग आकिंचन और ब्रह्मचर्य रूप व्यवहार धर्म से नित्य-निरन्तर परिणाम सहित होय, जो सुख-दुख, तृण-कंचन, लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र, निन्दा-प्रशंसा और जीवन-मरण में मध्यस्थ हैं अर्थात् जिसका समभाव रूप बर्ताव है जो बाईस परिषहों को जीतने वाला है। जो देव मनुष्य और तिर्यंच कृत आये हुये उपसर्ग को सहन करता है परन्तु क्रोधादि अवस्था धारण नहीं करता है, जो उत्तम ज्ञान युक्त है तथा उत्तम तपश्चरण करने का जिसका स्वभाव है परन्तु जिसकी आत्मा में ज्ञान और तप का मद नहीं है, जो मुनि मन में वक्रता का चिंतवन नहीं करता है, काय से वक्रता नहीं करता है एवं वचन से वक्रतारूप बोलता नहीं है, जो अपने दोषों को छुपाता नहीं है, ऐसा उत्तम आर्जव धर्म

सहित है। जो मुनि समभाव अर्थात् रागद्वेष रहित परिणाम और संतोष रूप परिणामों से तृष्णा और लोभ रूप मल को आने नहीं देता है, जो भोजन की गृद्धि अर्थात् अतिचार से रहित रूप उत्तम शौच धर्म सहित है। जो मुनि जिन वचन के अनुकूल ही बोलते हैं ऐसा उत्तम सत्य धर्म सहित है। जो मुनि स्व तथा पर जीवों की रक्षा में तत्पर हैं ऐसे उत्तम संयम भाव सहित हैं। जो मुनि आलोक तथा परलोक की अपेक्षा रहित अनेक प्रकार की काय-क्लेश करते हैं ऐसे उत्तम तप सहित हैं। जो मुनि मिष्ट भोजन छोड़ रागद्वेष के कारण जो बाह्य साधन हैं उस के त्यागी हैं एवं ममत्व के कारण रूप बस्तीका का भी त्याग करने वाले उत्तम त्याग धर्म सहित हैं। जो मुनि मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना पूर्वक सर्व चेतन अचेतन परिग्रह का त्याग रूप उत्तम आकिंचन धर्म सहित है तथा जो स्त्रियों की संगति न करे ऐसे उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म सहित है वह व्यवहार से गुरु है। जो मुनि परिग्रहधारी की संगति नहीं करता है क्योंकि परिग्रहधारी रागी है और मुनि महाराज वीतरागी हैं इसी कारण परिग्रहधारी से दूर जंगलों में ही नियम से रहता है, कारण कि भक्ति करना गृहस्थ का धर्म है और भक्ति राग है जब मुनि महाराज राग से

उदासीन हैं इसी कारण दोनों का अलग अलग पंथ होने से मुनि महाराज नियम से जंगलों में ही बसते हैं। जो मुनि महाराज २८ अठाईस मूल गुणों को नियम से पालन करते हैं। पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इंद्रिय का विजेता, छह प्रकार के आवश्यक धर्म का करणहार, नग्नता, भूमि शयन, स्नान का अभाव, दंत धावन का अभाव, केशलोंच करना, खड़े खड़े भोजन लेनो और एक वख्त भोजन लेना इसी प्रकार २८ मूल गुणों का पालनहार है।

शंका—मूलगुणों में तो जंगल में मुनि महाराजों का रहना नहीं लिखा है फिर मुनि जंगल में ही रहें ऐसा क्यों कहा जाता है?

समाधान—मूलगुणों में पांच महाव्रत हैं और वे पंच महाव्रत भावना सहित ही पालन किए जाते हैं। भावना रहित पांच महाव्रत कार्यकारी नहीं हैं। प्रथम भावना बाद में ही भावना का महाव्रत रूप फल है। अचौर्य महाव्रत में क्या भावना है सो विचारना चाहिये। चारित्र पाहुड की गाथा ३४ में कहा है कि—

सुण्णायारनिवासो विमोचितावास जे परोपरोधं च। असेणसुद्धि सउत्तं साहम्मी संविसंवादां॥

अर्थ—शून्यागार कहिये गिरि गुफा तरु कोटरादि विषै निवास करना, बहुरि विमोचितावास कहिये जो लोग काहू कारणते छोड़ दिया ऐसा गृह ग्रामादिक तामें निवास करना, बहुरि परोपरोध कहिये परका जहाँ उपरोध न कहिये वस्तिकादिककूं अपनाय परकूं वर्जना ऐसा न करना, बहुरि असेणशुद्धि कहिये आहार शुद्ध लेना, बहुरि साधर्मीनिते विसंवाद न करना यह पांच भावना तृतीय अचौर्य महाव्रत की है।

अब इस भावना बिना अचौर्य महाव्रत का पालन कैसे हो सकता है? इससे सिद्ध होता है कि मुनि महाराज नियम से जंगलों में ही रहते हैं। बोध पाहुड में गाथा ४२-४३ में लिखा है कि—

सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा।
गिरिगुहगिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसति वा॥
सवसासत्तं तित्थं वचचइदालत्तयं च वुत्तेहिं।
जिणभवणं अह बेज्झं जिणमग्गे जिणवरा विंति॥

अर्थ—सूनाघर, वृक्षका मूल कोटर, उद्यान, वन, मसाणभूमि, गिरिकी गुफा, गिरिका शिखर, भयानक वन, अथवा बस्ती इनिविषे दीक्षा सहित मुनि तिष्ठै है।

बहुरि स्ववशासक्त कहिये स्वाधीन मुनिनि करि

आसक्त जे क्षेत्र तिनमें मुनि बसे। बहुरि जहाँ से मुक्ति पधारे ऐसे तीर्थस्थान में मुनि बसे। बहुरि चैत्यालय एवं जिन भवन कहिये अकृत्रिम चैत्यालय मंदिर ऐसे आयतनादिक तिन के समान ही जिनका व्यवहार ताहि जिन मार्ग विषै जिनवर देव दीक्षा सहित मुनिनि के ध्यावने-योग्य चिंतवन करने योग्य, कहै हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि मुनि महाराज विशेषकर जंगलों में ही रहते हैं। एवं बोध पाहुड में प्रव्रज्या के स्वरूप के वर्णन करते भी गाथा ५६ में लिखा है कि मुनि कैसी प्रव्रज्या का पालन करता है कि—

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसेहिणिच्च अत्थेई।
सिलकट्ठे भूमितले सव्वे आरुहई सव्वत्थ॥

अर्थ—कैसी है मुनि की प्रवज्या? उपसर्ग कहिये देव, मनुष्य तिर्यंच अचेतन कृत उपद्रव और परिषह कहिये कर्म योगते आये बाईस परिषह, तिन्हें समभावसे सहना। जो ऐसा प्रव्रज्या सहित मुनि हैं ते जहां अन्य जन नाहिं ऐसे निर्जन वनादिक प्रदेश तहां सदा तिष्ठै हैं, तहां भी शिलातल, काष्ठ भूमितल विषै। इनि सर्वही प्रदेशों के आरोहण कर बैठे, सोवै, सर्वत्र कहने ते वन में ही रहे, अर किंचित्काल नगर में रहे तो ऐसे ही ठिकाने में नगर के बाहर रहैं।

जैन धर्म के सभी तीर्थ क्षेत्र जंगलों में ही क्यों बनाये गए ? इस पर विचार करने से सिद्ध होता है कि जैन दिगम्बर मुनि पहाड़ एवं जंगल में ही बसते हैं। जिस कारण से इन्हीं मुनियों के निवास स्थान क्षेत्र बनाए गये हैं।

स्वामी कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में भी मुनि महाराज के स्वरूप का वर्णन करते हुए गाथा ४४७ में लिखा है कि—

जो णिवसदि मसाणे,वणगहणे णिज्जणेमहाभीमे
अण्णत्थ वि अयेले तस्स वि अदं तवं होदि ॥

अर्थ—कैसे हैं वे मुनि जो मसान भूमि में, गहन वनमें, जहाँ लोगों का आवागमन न हो ऐसे निर्जनस्थान में, महा भयानक उद्यान-वन में तथा ऐसे एकान्त स्थान में रहते हैं वही मुनि महाराज निश्चयसे विविक्त शैया-सन तप वाले हैं।

इससे सिद्ध होता है कि दिगम्बर नग्न मुनि महाराज जंगलों में ही निवास करते हैं। वे मुनि पंच महाव्रत का यथार्थ पालन करने वाले, पांच समिति का पालन करने वाले, ईर्या समिति के पालन करने वाले, चार हाथ जमीन सोधनकर, मेरे द्वारा कोई भी जीवकी घात न होजावे, ऐसे रक्षा रूप पुण्य भाव सहित मौन से ही गमन करते

हैं। परन्तु बातें करते गमन नहीं करते हैं, क्योंकि एक साथ में दो कार्य नहीं हो सकते हैं। जिस काल में बात बोलना होगा उस ही काल में गमन बंधकर खड़ा रह कर वचन करेगें। इसीका नाम तो ईर्या समिति है। जो पांच इन्द्रिय के जीतने वाले हैं अर्थात् जितेन्द्रिय हैं। जो बाईस परिषह जीतते हैं, जो शीतकाल में नदी के तट पर कायोत्सर्ग कर खड़े रहकर शीत परिषह को जीतते हैं, जो उष्ण काल में पर्वत के शिखर पर मध्याह्न में खड़े रहकर आतापनयोग में उष्ण परिषह को जीतते हैं जो वर्षा ऋतु में पेड़ के नीचे ध्यान मुद्राधर डांस मच्छर आदिक का परिषह जीतते हैं, ऐसे मुनि महाराज नमस्कार एवं नवधा भक्ति करने योग्य हैं, वे ही गुरु हैं। परन्तु जो शीतकाल में घास ओढते हैं एवं अपने निज के लिए बनाई हुई टट्टी आदि में शौच टट्टी जाते हैं, वे मुनि यथार्थ में व्यवहार से भी गुरु नहीं हैं। वे तो दिगम्बर नग्न अवस्था के मात्र वेषधारी हैं, इनकी तो नवधा भक्ति भी की नहीं जाती है।

शंका—वर्तमान काल में आगमानुकूल पालन करने वाले मुनि देखने में आते नहीं हैं तो पीछे ऐसे वेषधारी की भक्ति करने में क्या बाधा है वह हमसे तो अच्छे हैं।

समाधान—मुनिका ऐसा वेष धारण करना जैसा

स्वरूप है वह वस्तुतः स्वरूप नहीं कहा है। मुनि तो जो संपूर्णकलाओं से परिपूर्ण हो जाता है उसीको कहा जाता है। हमसे अच्छा है यह मानकर इसकी भक्ति करना उचित मार्ग नहीं है। अमुक कलावान या गुणवान तो श्रावक भी होता है परन्तु मुनि महाराज तो पूर्णिमा के चन्द्र के समान संपूर्ण कलावान होते हैं। दूज तीज आदि के चंद्रमाकी तरह मुनि अमुक कलावान नहीं होता है। यही बात चारित्र पाहुड में गाथा २७ में कही है कि—

अवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसिय सयलं।
सुद्धं संघमचरणं जइधम्मं णिकले वोच्छ॥

अर्थ—कैसा है श्रावक धर्म? कला सहित है, एक देशकी कला कही। अब यति धर्म का संयमाचरण है उसे कहूँगा। कैसा है निकल कहिये कलाते निःक्रान्त है सम्पूर्ण है पूर्णिमा के चंद्र की तरह है, श्रावक धर्म की तरह एक देश नहीं है।

इससे सिद्ध होता है कि हमसे अच्छा है इससे मुनि मानना यह तो मिथ्याज्ञान है।

इससे सिद्ध हुआ कि जो आगमानुकूल आचरण करता है वही मात्र गुरु है और ऐसे गुरुकी ही नवधा भक्ति की जाती है। (१) प्रतिग्रहन (पड़गाहना) (२)

उच्च स्थान (३) पादप्रक्षालन (४) पूजा (५) वंदना प्रणाम (६) मन शुद्धि (७) वचन शुद्धि (८) काय शुद्धि (९) आहारपान शुद्धि। यह नौ प्रकार की भक्ति मात्र छठवें गुणस्थान धारी मुनि महाराज के ही होती है।

जिस मुनि महाराज का आगम ज्ञान नहीं है वह तो व्यवहार से भी सम्यग्दृष्टि नहीं है। जो व्यवहार से भी सम्यग्दृष्टि नहीं है उसको व्यवहार से चारित्र भी कैसे हो सकता है ऐसा जीव बाह्य में नग्न दिगम्बर है तो भी वह व्यवहार से भी मुनि—गुरु नहीं है। प्रवचनसार ग्रन्थ में गाथा २३३ में कहा है कि—

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कंमाणि किय भिक्खु॥

अर्थ—जो श्रमण आगमहीन है वह अपनी आत्मा को एवं पर पदार्थों को नहीं जानता है। ऐसा श्रमण कर्मों का क्षय किस प्रकार करेगा? अर्थात् कर नहीं सकता है। तथा गाथा २३६ में भी कहा है कि—

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवद जस्सहे संजमो तस्स।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो॥

अर्थ—इस लोक में जिसकी आगम पूर्वक दृष्टि नहीं है उसके संयम नहीं है, इस प्रकार सूत्र कहता है तो

ऐसा आगम रहित असंयत वह श्रमण कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं कहा जाता है।

इससे सिद्ध होता है कि गुरु वही है जिसको आगम ज्ञान हो, आगम ज्ञान द्वारा तत्वार्थ श्रद्धान हो और तत्वार्थ श्रद्धान के अनुकूल जिसके संयम भाव हो। वही यथार्थ में गुरु है।

शास्त्र का स्वरूप—जिस आगम में परस्पर विरोध वाली तत्त्व की बातें न हो, जो पदार्थ को अनेकान्त स्वरूप प्रतिपादन करते हैं अर्थात् एक पदार्थ के धर्म को दूसरे पदार्थ में न मिलाये, जैसा धर्म है वसा ही कहे और जो स्याद्वाद मुद्रा स्वरूप हो, वही सच्चा शास्त्र है। बाकी के शास्त्र नहीं हैं, परन्तु शस्त्र हैं। यही आगम अनादि अनंत है। यही आगम यथार्थ में तीन विभागों में विभक्त किया गया है। (१) करणानुयोग (२) द्रव्यानुयोग (३) चरणानुयोग। आत्मा तो ज्ञायक स्वभावी है, परन्तु अनादिकाल से कर्म के संयोग से वैभाविक अवस्था धारण कर रहा है। ऐसा आत्मा का ज्ञानावरण आदि पौद्गलिक द्रव्य कर्म के साथ किस प्रकार का संयोग है इसी का ज्ञान कराने के लिए करणानुयोग की रचना हुई है। ऐसी आत्मा का रागादिक कर्मों के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध है इसी का ज्ञान कराने के लिए

द्रव्यानुयोग की रचना हुई है और ऐसी आत्मा का नोकर्मों के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध है इसी का ज्ञान कराने के लिए चरणानुयोग की रचना हुई है। इससे अथवा द्रव्य कर्म, भावकर्म और नोकर्म छोड़ कर संसार में और कोई वस्तु है ही नहीं इससे चौथे अनुयोग की जरूरत होती ही नहीं अथवा बना ही नहीं है। परन्तु पाप भाव में से बचाने के लिए चौथा प्रथमानुयोग—कथानुयोग की रचना हुई है तो भी यह शास्त्र अनादि अनंत नहीं हैं, क्योंकि इसमें अनादि की कथा नहीं आसकती है तो भी परंपरा की अपेक्षा से उसी को भी अनादि अनंत कहने में बाधा नहीं है। इन तीनों अनुयोगों का ठीक २ ज्ञान करना चाहिये। यह तीनों अनुयोग समान कथन करने वाले नहीं हैं। यदि समान कथन करते तबतो सब एक प्रकार के कथन हो जाने से तीनों अनुयोगों का नाश होजाता ? परन्तु तीनों अनुयोग अलग २ अपेक्षा से ही कथन कर रहे हैं इसलिये ये अनुयोग किस २ अपेक्षा से कथन करते हैं इसी का ज्ञान किए बिना मात्र शास्त्र स्वाध्याय करते हुए भी जीव अज्ञानी का अज्ञानी ही रह जाता है।

जीवने आगम ज्ञान बहुत बार प्राप्त किया तो भी आत्मा का कल्याण क्यों नहीं हुआ, इसीका यदि शान्त

चित्तसे पक्षपात छोड़कर विचार किया जावे तो नियम से मालुम होगा कि आत्माने आगम अभ्यास करते हुए भी आगम की एक भी बात मानी नहीं है। जहां २ आगम में अपने राग पुष्ट हुए, ऐसी जो २ बातें देखीं वही बातें मात्र ग्रहण करलीं। इसी मिथ्यात्व गर्भित रागने आत्माको संसार का भाजन बना रखा है। कुदेव में देव बुद्धि, कुगुरु में गुरु बुद्धि और कुधर्म में धर्म बुद्धि कर ही संसार लंबा बना जा रहा है। जहां कुछ अतिशय या व्यन्तर देवों का अतिशय देखा कि तुरंत यह मेरा कल्याण कर देगा ऐसी बुद्धि करने में जरा भी विवेक नहीं किया। उसको ही सब कुछ मानने लगा। जैसा पद्मावती क्षेत्रपाल आदि को देव मानना एवं पद्मपुरी तथा महावीर आदि क्षेत्रमें किसी प्रयोजन से ही जाना आदि! यह सब क्या है? मिथ्यात्व गर्भित राग ही तो है और क्या है। इसी प्रकार कुगुरुमें गुरुबुद्धि करने में जरा विवेक नहीं किया। जैसे श्रीमद् राजचन्द्र ने अपने जीवन में अपनेको मुमुक्ष ही कहा है उसने तो संत पुरुष अर्थात् निःस्पृही गुरुओं का सेवन करने का ही जहां तहां उपदेश दिया है तो भी उसके अनुरागी जीवों ने उसी की प्रतिमा बनाली, दो चार मंदिर में उसकी प्रतिमा की भी स्थापना की, परन्तु इतना भी विवेक नहीं है कि प्रतिमा किसकी बनानी

चाहिये। भक्ति तो गुण में अनुराग करना उसीका नाम है। जब श्रीमद् राजचन्द्र तो अव्रती सम्यग्दृष्टि आत्मा था और आपका भी वही पद है तब आपने इसमें कौनसा विशेष गुण देखकर गुरु भक्ति की। यही सोचने को जीवोंको अवकाश नहीं है। इसी प्रकार शास्त्र में भी मेरी बात रह जाय इसी अभिप्राय से सोनगढ़ वासी ने नियमसार ग्रन्थ की गाथा ५३ का अर्थ बदलकर अपने मत के अनुकूल उस गाथा का अर्थ कर दिया। यह सब क्या है? मिथ्यात्व गर्भित राग की ही तो बदौलत है।

जिस जीव को मात्र व्यवहार का ही पक्ष है ऐसा व्यवहाराभासी जीव जहां बाह्य नग्न दिगम्बर स्वरूप देखता है और हाथ में कमण्डलु पीछी देखो वहां जरा भी विवेक किए बिना गुरु मानने में संकोच करता नहीं है? अठाईस मूलगुणों का पालन ठीक २ देखने में आता नहीं है, जो शीत आदि का परिषह सहन न कर घास आदि ओढ़ लेते हैं, जिसने पांच इन्द्रियों एवं उनके विषय को भी प्रत्यक्ष में जीता नहीं, ऐसा अपना आत्मा कबूल करता है तो भी, और जो अपने साथ में दो चार बक्स जितना शास्त्र, दो चार बिछाने के लिये चटाई आदि अनेक परिग्रह रखते दिखाई देते हैं तो भी उसी को गुरु मानने में जरा भी विलम्ब नहीं करता है। यह सब क्या

है ? मिथ्यात्वगर्भित राग की ही तो बदौलत है। और जो जीवों को मात्र निश्चय का पक्ष है अर्थात् जो निश्चयाभासी है वह मुख से तो निर्ग्रन्थ गुरु बोलता है तो भी अनेक प्रकार के कपड़े पात्रादि का परिग्रह देखते हुए उसी को "सतगुरु देव" आदि कहने में विवेक तो करता नहीं, परन्तु उसमें अपना गौरव समझता है। यह सब क्या है ? मिथ्यात्व की तो बदौलत है। मिथ्यात्व में क्या नहीं होता है ? देखिये हिंसा में प्रत्यक्ष सब जीव पाप ही मानते हैं तो भी तीव्र मिथ्यात्व में जीव काली देवी आदि को भैंसे आदि का बलिदान देकर अपने को धर्म हुआ मानता है। यह सब क्या है ? मिथ्यात्व की बदौलत है। विशेषकर पाप को तो जीव बहुत अंश में पाप मानते हैं परन्तु मिथ्यात्व ऐसी वस्तु है कि वह तो धर्म की जहां गन्ध नहीं है, ऐसी हिंसा में भी धर्म मना देता है।

जीव ने कुदेव में सुदेव बुद्धि एवं कुगुरु में सुगुरु बुद्धि अनेक दफे छोड़कर ग्रैवेयकवासी देव अनेक दफे बना परन्तु पुण्य भाव में धर्म बुद्धि मानना कभी भी छोड़ी नहीं। यही संसार की जननी मिथ्यात्व है। सूक्ष्म मिथ्यात्वरूप परिणाम ऐसा है कि वह पुण्य भाव में तुरन्त धर्म बुद्धि करा देता है। यही अनन्त संसार की

जड़ है। यही संसार की जननी है। पुण्य भाव में आत्मा धर्म बुद्धि कर अपने को धर्मात्मा मान लेता है। जीव यदि दो चार पूजा नित्य करने लगा और एकाध घंटा श्री मंदिर में लगाने लगा तो लोक कहने लगेगा कि भाई साहब बड़े ही धर्मात्मा हैं इतना तो नहीं परन्तु इसी को 'भक्त' भी कहने लगेगा। परन्तु इतना भी इसको ज्ञान नहीं है कि पूजा का भाव धर्म है कि पुण्य भाव अर्थात् बन्धन करने वाला अधर्म भाव है। यदि वही जीव अर्थात् भक्त नामधारी जहां शुद्ध अर्थात् मर्यादित आहार लेने लगा वहां तो वह अपने को बड़ा ही धर्मात्मा मानता है परन्तु उसे मालूम भी नहीं है कि शुद्ध आहार लेने का भाव कौनसा भाव है ? वह तो इसी को पुण्य अथवा निर्जरा भाव मानता है परन्तु इतना भी ज्ञान नहीं है कि खाने का भाव पुण्य कैसे हो सकता है वह तो पाप भाव है। पाप भाव को पुण्य भाव मानना मिथ्यात्व है। और पुण्य भाव को धर्म भाव मानना मिथ्यात्व है। यह इस जीव को ज्ञान नहीं है, क्योंकि उसने तत्त्व का पदार्थ स्वरूप जानने की चिन्ता करी ही नहीं है। भगवान कुन्द-कुन्द स्वामी ने समयसार ग्रन्थ के पुण्यपापाधिकार में गाथा १५४ में भी यही बात कही है कि—

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेदुं अजाणंता ॥

अर्थः—जो जीव परमार्थ से बाहर है परमार्थ भूत का ज्ञायक स्वभावी आत्मा को नहीं अनुभवै है—नहीं जानता है, वह जीव अज्ञान करि पुण्य कूं इष्ट माने है। पुण्य को ही धर्म माने है। कैसा है वह पुण्य ? संसार के गमन का कारण है। और आत्मा कैसा है ? मोक्ष का कारण ज्ञायक स्वभावी आत्मा को नाहीं जानते, पुन्य को ही मोक्ष का कारण माने हैं सो भूल है।

इसी प्रकार समयसार के बन्धाधिकार की गाथा २७५ में भी कहा है कि—

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि
धम्मं भोगनिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयनिमित्तं

अर्थः—संसार वर्धक जो पुण्य धर्म है जो भोग मिलने का ही मात्र कारण है उसी को मिथ्यादृष्टि जीव प्रतीति करता है, उसी की रुचि करता है, उसी को ही स्पर्शे है अर्थात् ग्रहण करता है और जो मोक्ष का कारण वीतराग धर्म अर्थात् ज्ञायक भाव है उसका श्रद्धान नहीं करता है नाहीं प्रतीति करता है। और जो कर्म क्षय का

कारण जो ज्ञायक स्वभाव भाव है उसकी रुचि भी नहीं करता है, नाहीं उसे ग्रहण करता है ।

शास्त्र में पुण्य भाव को धर्म बहुत जगह पर कहा है और पुण्य भाव को व्यवहार मोक्ष मार्ग भी कहा है एवं पुण्य को परम्परा मोक्ष का कारण भी कहा है, परन्तु नय का एवं अनुयोग का ज्ञान नहीं होने के कारण जीव शास्त्र पढ़ते हुए भी मिथ्यादृष्टि का मिथ्यादृष्टि ही रह जाता है । जैसे पुरुषार्थ चार कहे हैं । (१) धर्म (२) अर्थ (३) काम (४) मोक्ष । परन्तु धर्म का अर्थ भी समझता नहीं है एवं उसका परमार्थ अर्थ भी समझता नहीं है, मात्र शास्त्र का शब्द ज्ञान कर तोते की माफिक बोल देता है । इसी का परमार्थ अर्थ यह है कि धर्म का अर्थ पुण्य है, पुण्य से अर्थ अर्थात् धन मिलता है और अर्थ अथवा धन से भोग की सामग्री मिलती है और यह तीनों का अभाव करने से अर्थात् तीनों का त्याग करने से मोक्ष मिलता है । यह परमार्थ का ज्ञान न होने के कारण मिथ्यादृष्टि ही रह जाता है । इसलिए सर्वप्रथम मोक्षमार्गी जीवों को अनुयोग का ज्ञान करना चाहिये । क्योंकि तीनों अनुयोग अलग अलग अपेक्षा से कथन करता है और अज्ञानी को इसका ज्ञान न होने के कारण शास्त्र स्वाध्याय करते हुए भी मिथ्यादृष्टि ही रह जाता है ।

द्रव्यानुयोग और करणानुयोग का निमित्त नैमित्तिक संबंध है और द्रव्यानुयोग एवं चरणानुयोग का बाह्य कारण-कार्य सम्बन्ध है। यही ज्ञान न होने से चरणानुयोग के कथन को द्रव्यानुयोग समझा जाता है और द्रव्यानुयोग के कथन को चरणानुयोग समझ जाता हैं। यही मिथ्यात्व रहने की महान भूल है। इस भूल का नाश करने के लिये अनुयोग का ठीक ठीक ज्ञान करना चाहिये।

धर्मकथानुयोग—इस अनुयोग में प्रधानतः पुण्य पाप के फलाफल का वर्णन है। इसके ज्ञान से आत्मा पाप भाव को छोड़कर पुण्य भाव में जरूर लगने के लिये पुरुषार्थ करता है। यही इस अनुयोग का प्रधान कार्य है। यद्यपि आचार्य का पुण्य में फंसाने का अभिप्राय नहीं है; परन्तु धर्म की रुचि उत्पन्न कराने का अभिप्राय है। इस अनुयोग में जीव सौ दफे पाप सेवन करे और एक दफा पुण्यभाव में लगे तो पाप के फल को गौण कर तुरन्त यह अनुयोग कहेगा कि देखो पुण्य के कारण स्वर्ग की प्राप्ति करी। एवं सौ भाव पुण्य का करे और एक भाव पाप का करे तो वही पुण्य भाव को गौण करि यह अनुयोग तुरन्त कहेगा देखो पाप भाव से जीव नरक में गया। इस प्रकार के कथन करने की शैली इस अनुयोग की है। यह अनुयोग इस प्रकार का भी कथन करेगा कि

राजा बनना हो, स्वर्ग में देव बनना हो तो पुण्य करो। यही कांक्षा का भाव है जो मिथ्यात्व गर्भित है। परंतु अभिप्राय मिथ्यात्व का सेवन कराने का नहीं है, मात्र अभिप्राय धर्म की ओर रुचि उत्पन्न कराने का है। त्रेसठ शलाका के पुरुष का वर्णन प्रधानतः इस अनुयोग में ही आता है। जिसको पढ़कर जीव को ऐसा महान पद लेने की भावना उत्पन्न होती है जिस कारण से वही जीव पुण्य भाव की तरफ झुक जाता है और पाप भाव को छोड़ने की चेष्टा करता है। पुण्य भाव में आने के बाद श्रीगुरु उसी को यथार्थ मोक्ष का मार्ग दिखायेगा कि अरे यह पुण्य भी तो बन्धन है। इस भाव को छोड़, मात्र वीतराग भाव की ओर आजा जो मोक्ष का कारण है। इसी प्रकार इस-अनुयोग में कथन की शैली है।

चरणानुयोगः—इस अनुयोग में प्रधानतया बाह्य साधनों के—जो कि राग का कारण हैं, त्याग का वर्णन करता है। क्योंकि संसार में सामग्री वस्तु न हो उसका राग कभी भी होता ही नहीं है। बाह्य सामग्री राग कराती नहीं हैं तो भी कारण में कार्य का उपचार कर इस अनुयोग में कथन करने की शैली है। कहा भी है कि—

वत्थुं पडुच्च जे पुण अज्झवसाणं तुहोइजीवाणं।
णय वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि॥

अर्थ—जीवों के जो अध्यवसाय भाव होता है वह वस्तु को अवलम्बन करके होता है तो भी वस्तुओं से बंध नहीं होता है परन्तु बन्ध अध्यवसाय या भाव से ही होता है।

इसलिये रागादि भाव छुड़ाने का अभिप्राय रखते हुए यह अनुयोग पर पदार्थ के त्याग का उपदेश करता है। यथार्थ में देखा जाय तो पर पदार्थ स्वतः आत्मा से भिन्न हैं, केवल कारण के त्याग से कार्य का त्याग हो सकता है। इस लक्ष्य से यह अनुयोग रागादिक की उत्प त्तिका कारण पर पदार्थों को छोड़ने का व्याख्यान करता है। यथार्थ में पर पदार्थ का त्याग नहीं होता है प्रत्युत उसके प्रति जो ममत्व भाव है उसी का त्याग करना कार्यकारी है व कल्याणप्रद होता है, परन्तु पर पदार्थ छोड़ दिया और राग न छूटा तो त्याग कोड़ी की कीमत का है। जैसे रस छोड़ देवे और राग न छूटे तो त्याग कोई कार्यकारी नहीं है। क्योंकि रस छोड़ना धर्म नहीं है परन्तु राग छोड़ना धर्म है। यथार्थ में रस छोड़ा जाता ही नहीं है क्योंकि ऐसा एक भी पुग्दल परमाणु नहीं है कि जिसमें रस नामका गुण न हो।

चरणानुयोग छद्मस्थ जीवों के बुद्धि-गम्य बातों का ही व्याख्यान करता है। लोक का सर्व व्यवहार

चरणानुयोग से ही चलता है। करणानुयोग में व्यवहार प्रवृत्ति होती ही नहीं है। क्योंकि करणानुयोग समय २ के परिणामों का कथन करता है जब चरणानुयोग स्थूल असंख्यात समय के काल के परिणामों का कथन करता है जो कि छद्मस्थ जीवों के ज्ञानोपयोग गम्य है।

चरणानुयोग में गुणस्थान मात्र बाह्य प्रवृत्ति पर है जिसके आधार से लोककी प्रवृत्ति चलती है जब कि करणानुयोग में गुणस्थान भावों पर है जो यथार्थ है और चरणानुयोग के गुणस्थान व्यवहार मात्र या कहने मात्र हैं।

चरणानुयोग नौकर्म को बाधक साधक मानता है जब करणानुयोग नौकर्म को साधक बाधक नहीं मानता है, मात्र द्रव्यकर्म को ही बाधक मानता है कि जिस द्रव्यकर्म के साथ में जीवका निमित्त नैमित्तिक संबंध है।

पात्रादिक का भेद चरणानुयोग में ही होता है जिस कारण चरणानुयोग में ही भक्ति आदि क्रियाएं होती हैं। करणानुयोग में पात्रादिक का भेद नहीं है जिस कारण से करणानुयोग में भक्ति होती ही नहीं है। क्योंकि जिस जीव का भाव ग्यारहवां गुणस्थान का है वही जीव अपने भाव से गिरकर मिथ्यात्व आदि गुणस्थान में आजाता है। जहां परिणामों की ऐसी स्थिति

है वहां छद्मस्थ जीव परिणामोंको देखकर भक्ति कर नहीं सकता है क्योंकि छद्मस्थ जीव का ज्ञानोपयोग असंख्यात समय में ही होता है इसलिये भक्ति में प्रधानपना चरणानुयोग का ही है।

निश्चय सम्यग्दृष्टि आत्मा जब सम्यग्दर्शन से गिर कर मिथ्यात्व भाव में चला जाता है तब तुरन्त उसी जीव को भी मालुम नहीं होता है कि मैं मिथ्यात्व में कब चला गया हूँ। क्योंकि छद्मस्थ जीवों के सूक्ष्म भाव बुद्धि गम्य नहीं आते हैं परन्तु छद्मस्थ के स्थूल भाव बुद्धि गम्य हैं। जैसे धनी आदमी अपने पास में कितनी पूंजी है वह रुपया आना पाई सहित निश्चित रकम नहीं दे सकता है या कह सकता है, परन्तु अपनी मिलकियत का अंदाजा देखता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने सूक्ष्म भावको नहीं जानता है परन्तु स्थूल भाव को जानता है।

अनन्तानुबंधी कषाय में जो पर पदार्थ में इष्टानिष्ट का स्थूल भाव होता था वही स्थूल भाव नहीं होने से जीव मानता है कि मेरे में अब अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव है। परन्तु सूक्ष्म भाव अनन्तानुबन्धी का रह जाता है उसको वह जीव पकड़ भी नहीं सकता है। क्योंकि उसका ज्ञान ही इतना हीन है। इसी कारण से तो कहा

गया है कि जो जीव नवें ग्रैवेयक में जाने वाला है उसमें भी सूक्ष्म मिथ्यात्व का ऐसा भाव रह जाता है जो वह उसके गम्य नहीं है परन्तु केवली–गम्य है। जैसे स्थूल भाव से हम कह सकते हैं कि कुन्दकुन्द स्वामी के एक रोम में या एक आत्म-प्रदेश में भी स्त्री भोगने का भाव नहीं था, परन्तु सूक्ष्मता से विचार करते या आगम प्रमाण से विचार करते कुन्द कुन्द स्वामी में भी सूक्ष्म स्त्री सेवन का भाव जरूर था। यदि यह भाव नहीं होता तो उन्हें पुरुष वेद का बन्ध कैसे होता? इससे सिद्ध होता है कि छद्मस्थ जीव स्थूल भावों का ही मात्र ज्ञान कर सकता है एवं पुरुषार्थ कर सकता है।

सम्यग्दर्शन का भाव तो महान सूक्ष्म भाव है परन्तु सासादन गुणस्थान का भाव तो सम्यग्दर्शन करते बहुत स्थूल है तो भी वह भाव छद्मस्थ के ज्ञान गोचर नहीं है। एवं सासादन गुणस्थान में जो भाव है या सासादन का जो काल है उस भाव और काल से मिश्रगुणस्थान का भाव व काल विशेष स्थूल है तो भी वह भाव और काल छद्मस्थ जीवों के ज्ञान गम्य नहीं है। जहाँ वस्तु का स्वरूप ऐसा है वहाँ जीव हिम्मत से कहता है कि अमुक व्यक्ति निश्चय से सम्यग्दृष्टि है। उसका वह कहना कहाँ तक सत्य है यह विचार करना चाहिये? व्यवहार से हम

व्यवहार द्वारा परीक्षा कर कहते हैं कि यह जीव सम्यग्-दृष्टि है, वह व्यवहार की अपेक्षा सत्य है क्योंकि व्यव-हारी जीवों को व्यवहार की शरण है।

मैं तो मिथ्यादृष्टि हूँ परन्तु अमुक व्यक्ति नियम से सम्यग्दृष्टि है यह उसका कहना कितना गलत है? आप तो कुम्हार हैं और हीरे की परीक्षा करते हैं, यह कैसे बन सकता है? प्रथम आप जौहरी बनिए बाद में कहिये कि यह हीरा है, तब तो आपका कहना सत्य है। इससे सिद्ध होता है कि निश्चय का ज्ञान छद्मस्थ जीवों को नहीं है परन्तु व्यवहारी जीव को व्यवहार का ज्ञान है।

चरणानुयोग यही उपदेश देगा कि अभक्ष पदार्थ छोड़ो, बाजार की चाट छोड़ो, जल छानकर पीओ, रात्रि में चार प्रकार के आहार का त्याग करो, पंच परमेष्ठि की भक्ति करो, जाप करो सामायिक करो, प्रतिमा धारण करो लक्ष्मी का त्याग करो, स्वस्त्री का त्याग करो, घर का त्याग करो, वस्त्र का त्याग करो, नग्न दिगम्बर मुनि बनो, पंच महाव्रत का पालन करो, यह सब उपदेश का अभिप्राय वीतराग भाव प्राप्त कराने का ही है और वीत-राग भाव प्राप्त न हुआ और घर छोड़ त्यागी बना और नग्न दिगम्बर मुनि भी बन गया, पंच महाव्रत का पालन

भी किया तो भी वह मात्र बाह्य त्याग रूप ही रहा, परन्तु शान्ति का उत्पादक नहीं हुआ।

चरणानुयोग की अपेक्षा मुनि लिंग सर्वथा निर्ग्रन्थ ही होता है, जिसके पास में एक सूत मात्र परिग्रह है वह मुनि नहीं है परन्तु गृहस्थ है। चरणानुयोग की अपेक्षा नग्न दिगम्बर मुनि उत्तम पात्र है। ऐलक, क्षुल्लक, आर्यिका, क्षुल्लकाणी, ब्रह्मचारी आदि पंचम गुणस्थान-वर्ती श्रावक हैं वे ही मध्यम पात्र हैं और अव्रती श्रावक पाक्षिक हैं वह जघन्य पात्र हैं।

चरणानुयोग की अपेक्षा से जिसको सतदेव, सतगुरु और व्यवहार धर्म की श्रद्धा है वही सम्यग्दृष्टि है। परन्तु जिसको कुदेव कुगुरु की श्रद्धा है वह मिथ्यादृष्टि है। चरणानुयोग का सम्यग्दृष्टि यदि वीतराग देव के सामने भक्ति करता धन मांगे, पुत्रादि मांगे तो भी चरणानुयोग उसको सम्यग्दृष्टि मानेगा। यद्यपि यह कांक्षा के भाव स्थूल मिथ्यात्व के ही हैं। परन्तु चरणानुयोग इसको ही स्वीकार करता है। क्योंकि चरणानुयोग में मात्र बाह्य प्रवृत्ति खान पान आदि का सम्बन्ध है। जिसको आत्मज्ञान नहीं है, परन्तु मात्र देवादिक की बाह्य श्रद्धा है उसको चरणानुयोग सम्यग्दृष्टि कहता है परन्तु करणानु-योग के व्यवहार की अपेक्षा वही मिथ्यादृष्टि है। करणा-

नुयोग के व्यवहार से जिस जीव को छह द्रव्य, नौ तत्त्व, पंचास्तिकाय बन्ध मोक्ष के कारण का ज्ञान है वह सम्यग्दृष्टि है। यद्यपि उसको मिथ्यात्व कर्म का उदय है क्योंकि व्यवहार में कर्म के उदय का ज्ञान छद्मस्थ जीवों को नहीं होता है परन्तु वचन द्वारा आगम अभ्यास से उसके ज्ञान का आगम अनुकूल जवाब होने से कहा जाता है कि यह सम्यग्दृष्टि है और उसी प्रकार उसके साथ व्यवहार रखा जाता है। यही व्यवहारी जीवों का व्यवहार है, ऐसा जिनेंद्र देव ने कहा है।

चरणानुयोग की अपेक्षा जो नग्न दिगम्बर है, जिस को व्यवहार से छह द्रव्य, नौ तत्व, पंचास्तिकाय, बन्ध मोक्ष के स्वरूप का ज्ञान है, जो २८ अठाईस मूलगुणों का आगमानुकूल पालन करता है, जो बाईस परीषहों को आगमानुकूल जीतता है, जो देव मनुष्य तिर्यंच द्वारा आए हुए उपसर्ग को जीतता है उसको ही मुनि मानकर उसको ही मात्र नमोस्तु कहना चाहिए और उसकी ही नवधाभक्ति होती है। ऐलक, क्षुल्लक, अर्जिका, क्षुल्लिकाणी की नवधाभक्ति में से पूजन छोड़ कर आठ प्रकार की भक्ति होती है क्योंकि उसका पंचम गुण स्थान है और उसको नमोस्तु नहीं कहना चाहिये, परन्तु इच्छाकार कहना चाहिए। सूत्र पाहुड की गाथा १३ में कहा है कि-

अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्म संजुत्ता।
चेलेणय परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जाय ॥

अर्थ—दिगम्बर मुद्रा सिवाय अवशेष जे लिंगी हैं-भेष करि संयुक्त हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान करिके सहित हैं और वस्त्र करि परिगृहीत हैं-वस्त्र धारे हैं वह जीव इच्छाकार कहने योग्य हैं।

जिनको नमोस्तु कहने का भी पद नहीं है ऐसे जीवों की पूजा (अर्घ) कैसे की जा सकती है। पंचम और छटवां गुणस्थान में यही तो अंतर है। देखिये समवशरण में भी मुनि महाराज के बैठने का कोठा अलग है परन्तु अर्जिका साधारण अव्रती स्त्री की सभामें सबके समान अपना आसन लेती है, इसके लिये और कोई खास प्रकार की व्यवस्था नहीं, एवं ऐलकादि भी साधारण अव्रती श्रावक के साथ श्रावक के ही कोठे में बैठते हैं, उनके लिए भी वहां खास प्रकार के भेद भाव रूप की व्यवस्था नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि पंचम गुणस्थान वाले उत्कृष्ट पदके धारी की पूजा नहीं हो सकती है। और जो पंचम गुणस्थान में निमंत्रण से भोजन लेते हैं, उनकी पांच प्रकार की भक्ति होती है। परन्तु चार प्रकार की भक्ति अर्थात् पूजन मनः शुद्धि वचनशुद्धि और

कायशुद्धि नाम की चार भक्ति नहीं होती है। क्योंकि उसने निमंत्रण मान लिया है अर्थात् हमारे चोके में जो सामग्री बनाई जाती है वह तो उसके लक्ष से ही बनाई जाती है एवं उसमें जो हिंसा होती है उसमें उसकी अनुमोदना भी है जिससे मनशुद्धि वचनशुद्धि एवं कायशुद्धि नाम की भक्ति उसकी नहीं करना चाहिये परन्तु यह तीन भक्ति तो जो निमंत्रण नहीं स्वीकरता है, उसकी ही की जाती है।

शंका—स्त्रियों को छठा गुणस्थान होता है ऐसा आचार्यप्रवर भूतबलि स्वामी ने धवल ग्रन्थ में प्रथम खंड के सूत्र ९३ में लिखा है तब उसकी पूजा क्यों नहीं करनी चाहिये ? कहा भी है कि—

सम्मामिच्छाइट्ठि, असंजसम्माइट्ठि, संजदासंजद,(संजद)ट्ठाणेनियमा पज्जत्तियाओ।

अर्थ—मनुष्य स्त्रियाँ सम्यग्दृष्टि असंयत सम्यग्दृष्टि संयतासंयत और संयत गुणस्थान में नियम से पर्याप्तक होती हैं।

समाधान—यह करुणानुयोग को अपेक्षा से अर्थात् भाव की अपेक्षा से कहा है जो परम सत्य है। परन्तु करुणानुयोग में भक्ति होती ही नहीं है, भक्ति चरणानुयोग

का ही विषय है, क्योंकि जिस आत्मा का ग्यारहवां गुणस्थान रूप परिणाम है वही आत्मा अपने परिणामों से च्युत होने पर प्रथमादि गुणस्थानवर्ती हो जाता है जहाँ परिणाम की स्थिति ऐसी है, वहाँ छद्मस्थ जीव परिणाम देखकर भक्ति कर नहीं सकता है। इसलिए भक्ति नियम से चरणानुयोग में ही होती है। चरणानुयोग की अपेक्षा जब तक वस्त्रादिक का त्याग नहीं किया जाता है अर्थात् नग्न दिगम्बर अवस्था बाहर में नहीं होती है तब तक छटवाँ गुणस्थान माना नहीं जाता है। इसी कारण स्त्रियों का पंचम गुणस्थान ही माना जाता है और उनकी पंचम गुणस्थान के अनुकूल भक्ति करनी चाहिये।

जैसे तीर्थंकर जब गृहस्थावस्था से उदासीन होते हैं तब उनके परिणाम सप्तम गुणस्थान रूप होते हैं तब ही लौकान्तिक देव आते हैं, इससे पूर्व लौकान्तिक देव कभी भी नहीं आते हैं। ऐसे सप्तम गुणस्थान रूप भाव हुए बाद ही वस्त्रादिक का त्याग किया जाता है। भाव पाहुड की गाथा ७३ में कहा है कि—

भावेण होई नग्गो मिच्छताइ य दोस चइउणं।
पच्छा दव्वेण मुणि पयडदि लिंगं जिणाणाए॥

अर्थ—प्रथम मिथ्यात्वादि दोषों को छोड़ कर भाव नग्न होकर एवं शुद्ध आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान और आचरण कर तत्पश्चात् मुनि द्रव्य रूप बाह्य क्रिया जिनाज्ञा पूर्वक प्रकट करे-ऐसा जैन मुनि का मार्ग है। एवं उत्तर पुराण पर्वनां ६९ श्लोक नंबर ५२।

प्रथम भाव होता है बाद में ही क्रिया होती है, यह रागी जीवों के लिये नियम है। तीर्थंकर के आत्मा में वीतराग भाव रूप सप्तम गुणस्थान की अवस्था है तब सौधर्म इन्द्र आता है और कहता है कि प्रभो! यह गहना पहनिये। यह कपड़ा पहनिये। प्रभो! पालकी में विराजिये और गाजे बाजे आदि अनेक ठाठ के साथ उद्यान में ले जाता है। रागी इन्द्र यह सब ठाठ कर रहा है जब तीर्थंकर के तो उदासीनता अर्थात् सप्तम गुणस्थान का भाव ह। कहा भी है कि—

सती मोहे शृंगार अति करत प्यार जो नगर नार।
धाव लड़ावत आन बाल त्यों भोग करत नाहीं खुशाल॥

जब वस्त्रादिक का त्याग और केशलौंच नहीं होगा तब तक चरणानुयोग तीर्थंकर का छठवां गुणस्थान स्वीकार नहीं करता है। चरणानुयोग मात्र बाह्य प्रवृत्ति

देखता है कि जो प्रवृत्ति छद्मस्थ जीवों के ज्ञान गोचर है। इसलिये चरणानुयोग में ही पदके अनुकूल भक्ति होती है।

चरणानुयोग बाह्य वस्तु के संयोग में परिग्रह मानता है जबकि करणानुयोग बाह्य वस्तु के संयोग में परिग्रह नहीं स्वीकार करता है। करणानुयोग में "मूर्छा" को मात्र परिग्रह स्वीकार किया है। देखिये एक भिक्षुक के पास में कुछ भी परिग्रह नहीं है और तीन लोक की सम्पत्ति की मूर्छा है। इसी कारण उसको महान दुःखी एवं परिग्रह धारी मानते हैं और एक छह खण्ड की विभूति का परिग्रह होते हुए भी मूर्छा नहीं होने से भरत महाराज को वैरागी कहा हैं। यह क्या है? यह अनुयोग की महिमा है। करणानुयोग और चरणानुयोग परस्पर विरोधी कथन करते हैं। इस कारण इस अनुयोग का ठीक ठीक ज्ञान नहीं होने से जीव मिथ्यादृष्टि ही रह जाते हैं। देखिए दोनों अनुयोग का विरोधः—चरणानुयोग रस छोड़ कर भोजन लेने वाले को धर्मात्मा कहता है जब करणानुयोग कहता है कि भोजन में महान लालसा है इस कारण पापी है। जिसने स्त्री का त्याग किया है उसको चरणानुयोग कहता है ब्रह्मचारी है जब करणानुयोग कहता है वह तो भाव से नारी सेवन करने से

भोगी है। जिसने वस्त्र का त्याग कर नग्नता दिगम्बर अवस्था धारण की है जो मूलगुणों का जिन आज्ञा अनुकूल पालन करता है, जो बाईस परीषहों को जीतता है देव, मनुष्य और तिर्यंच द्वारा आए उपसर्ग को जीतता है उसको चरणानुयोग छटे गुणस्थानवर्ती मुनि महाराज कहते हैं, उनको करणानुयोग कहता है कि कहाँ का मुनि है भाव में तो मिथ्यात्व का सेवन कर रहा है मिथ्या-दृष्टि है और द्रव्य लिंगी मुनि है। कहा भी है कि—

जिनवर कहेलां व्रत समिति गुप्ति वली तप शील ने। करतां छताय अभव्य जीव अज्ञान मिथ्यादृष्टि है॥

दान देने से चरणानुयोग कहता है महा दानेश्वर धर्मात्मा है, जब कि करणानुयोग कहता है कि कहां का दानेश्वर है? महा मान कषायी पापी आत्मा है। मान से धन का त्याग कर रहा है। इत्यादि दोनों अनुयोगों में परस्पर विरोध है तो भी दोनों अनुयोग अपने अपने पद में सत्यार्थ हैं। जैसे—

एक मुनि भाव लिंगी जंगल में शीत काल में ध्यान में आरूढ़ हैं। उसी समय एक भद्र परिणाम वाला अजैन वहां से निकला। मुनि को नग्न देखकर उसे दया आई।

अहा ! इतने शीत में यह जीव नग्न है ? यह सोच कर करुणाभाव से मुनि के शरीर पर अपनी एक चादर डाल दी। वह वहां से चला गया। मुनि को उपसर्ग आगया। इतने में थोड़ी देर के बाद श्रावक संघ मुनि को बंदन करने को आया। मुनि को चादर सहित देखकर विचारने लगा, अरे काहे का मुनि हैं ? चादर ओढ़कर तो बैठा है। चुप रह गया, बंदन नहीं किया। क्योंकि यह चरणानुयोग की विधि है। इतने में थोड़ी देर बाद मुनि ने क्षपक श्रेणी मांडकर केवलज्ञान की प्राप्ति की। तुरंत इन्द्र आदि देव केवल कल्याण के लिये आए। श्रावक संघ सोचने लगा कि अरे ! मुनि महाराज ने केवल ज्ञान प्राप्त किया। अरेरे ! मैंने मुनि महाराज को पहिचाना नहीं, धिक्कार है ? इस अल्प ज्ञान को ? देखिये श्रावक पश्चाताप करता है, तो भी उसने बंदन नहीं करने में ही अपनी पद की रक्षा की थी। क्योंकि बंदन करना चरणानुयोग की विधि है और उसने ठीक ठीक चरणानुयोग के अनुकूल जिन आज्ञा का पालन किया था। यह तो दोनों अनुयोग में विशेषता है। इसी कारण दोनों अनुयोग के कथन को सुनकर संशय में न पड़कर यथार्थ निर्णय करना चाहिये कि यह कौन से अनुयोग का कथन है।

चरणानुयोग कार्य देखकर कहता है कि मनुष्य उच्च एवं नीच गोत्री होता है जब करणानुयोग हिम्मत से कहता है कि मनुष्य नीच गोत्री होता ही नहीं है, उच्च गोत्र में ही मनुष्य पर्याय मिलती है। देखिये गोम्मटसार गाथा २८५। मनुष्य को नीच गोत्र का उदय होता है ऐसा कथन है परन्तु संस्कार से नीच गोत्र का उदय बदल जाय यह आगम नहीं कहता है। यदि संस्कार से नीच गोत्र का उदय बदल जाय तो तिर्यंच भी संस्कार से उच्च गोत्री हो जायेगा जो असम्भव है।

इसलिए मोक्षमार्गी जीवों को फालतू झगड़े में न पड़कर यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर अपने कल्याण करने का रास्ता लेना चाहिये। लाख बात की एक बात यह है कि जीव को पहिचान कर राग-द्वेष छोड़ना चाहिए वही धर्म है। यही चारों अनुयोग का सार है :—

करणानुयोग—प्रधानतया कर्म प्रवृत्ति द्वारा आत्म-परिणाम का और तीन लोक की रचना का ज्ञान कराता है। करणानुयोग बाह्य पदार्थ को अर्थात् नोकर्म को साधक बाधक नहीं मानता है, परन्तु कर्म को ही बाधक मानता है और कर्म के अभाव को साधक मानता है। कर्म प्रकृति छोड़ने को यह अनुयोग उपदेश देता है, परन्तु यथार्थ में कर्म प्रकृति का त्याग नहीं होता है।

क्योंकि वह तो पर पदार्थ है, पर पदार्थ का त्याग करना यह कहना मात्र शाब्दिक व्यवहार है। कर्म प्रकृति जिस परिणाम से बंधती है, उस परिणाम को न करे उसी का नाम ही कर्म प्रकृति का त्याग है। कर्म हमको दुख देता है यह भी कहने मात्र का उपचार है। कर्म तो जड़ है वह आत्मा को दुख नहीं दे सकता है, आत्मा अपने रागादिक परिणाम से दुखी है। आत्मा के रागादिक परिणामों का और कर्म प्रकृतियों का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसलिए कर्म प्रकृति हमको दुख देती है ऐसा कहा जाता है। वह व्यवहार है। कर्म ही आत्मा के परिणामों में अभ्यन्तर निमित्त हैं। कर्म छोड़कर रागादिक का और कोई निमित्त नहीं है। नोकर्म तो ज्ञेयका निमित्त है परन्तु आत्मा मोहादिक के कारण उसी को ज्ञेय रूप न मानकर अपने रागादिक में उसी को निमित्त बना लेता है तो भी ज्ञेय निमित्त बनता नहीं है। ज्ञेय पदार्थ तो ज्ञेय ही है वह रागादिक के कारण नहीं है। यदि वह रागादिक के कारण हो तो केवली परमात्मा को भी वह रागादिक करा देता परन्तु वह रागादिक का निमित्त नहीं है मात्र ज्ञेय का निमित्त है। केवली भगवान् लोकालोक को देखते हैं परन्तु गधे के सींग, आकाश के पुष्प, बंध्या औरत के पुत्र को क्यों नहीं

देखते हैं ? तब कहना पड़ेगा कि लोक में ऐसा ज्ञेय नहीं है। इसी कारण केवली परमात्मा ज्ञेय बिना देखते नहीं हैं। ज्ञेय कारण है और ज्ञान की अवस्था होना कार्य है। प्रथम कारण होता है बाद में ही कार्य होता है। परन्तु आज कल बहुत जीव कार्य की महिमा मानते हैं, कारण की महिमा नहीं मानते। यह उनका अज्ञान है। कारण बिना कार्य की उत्पत्ति होती ही नहीं, इस सिद्धान्त को उन्होंने माना नहीं। इसी कारण वह अज्ञानी हैं। जैसे रागादिक परिणाम कारण है और कार्माण वर्गणाकी कर्म रूप अवस्था होना कार्य है। प्रथम कारण में अवस्था होती है बाद में तदनुकूल ही कार्य अर्थात् नैमित्तिक की अवस्था होती है। इसी प्रकार जितने अंशों में ज्ञानावरणादि कर्म का उदय होगा उतने ही ज्ञान की नियम से हीन अवस्था होगी। ज्ञानावरण कर्म कारण है उसीकी प्रथम अवस्था होती है, तत्पश्चात् ज्ञान की तदनुकूल ही अवस्था होती है जिसको नैमित्तिक अवस्था कही जाती है। इससे सिद्ध होता है कि कर्म के साथ में आत्मा का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है।

संवर निर्जरा का भेद भी प्रधानपने करणानुयोग में ही होता है। क्योंकि जितनी प्रकृतियों का बन्ध रुक जाता है उसीको तो संवर कहा जाता है।

स्त्री रूप जिसका शरीर है ऐसा आत्मा बाह्य में कपड़े का परिग्रह होते संते उसका सप्तम गुणस्थान तक निर्मल परिणाम हो सकता है। इसी अपेक्षा से आचार्य भूतबलि महाराज ने धवल के ९३ वें सूत्र में कहा है कि-

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजसम्माइट्ठि-संजदासंजद (संजद) ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ॥

अर्थ—मनुष्य स्त्रियां सम्यग्मिथ्यादृष्टि असंयत सम्यग्दृष्टि संयतासंयत और संयत गुणस्थान में नियम से पर्याप्तक होती हैं।

स्त्री को संयत गुणस्थान होता है वह करणानुयोग की अपेक्षा से माना जाता है परन्तु चरणानुयोग की अपेक्षा से स्त्री का पंचम ही गुणस्थान मानना चाहिये और पंचम गुणस्थान रूप इसका आदर सत्कार करना चाहिये।

करणानुयोग की अपेक्षा से बाह्य परिग्रह होते हुए जीव मिथ्यात्व में से सीधा चतुर्थ गुणस्थान रूप भाव, पंचम गुणस्थान रूप भाव एवं सप्तम गुणस्थान रूप भाव कर सकता है। बाह्य पदार्थ करणानुयोग बाधक मानता नहीं है।

श्री पांडव युधिष्ठिरादिक नग्न दिगम्बर अवस्था में शत्रुंजय पहाड़ पर ध्यानावस्था में थे तब अपने ही भाई

ने पूर्व वैर के कारण लोहे का गहना जैसे मुकुट कुण्डल बाजूबन्ध हार इत्यादि तप्तायमान कर उसको पहरा दिया। इस अवस्था में मुनि महाराज ने श्रेणी मांड कर तीन बड़े भाईयों ने सिद्ध पदकी प्राप्ति करली और दो लघु भ्राताओं ने सर्वार्थ सिद्धि पदकी प्राप्त करली। देखिये बाह्य गहने का संयोग होते हुए भी उन महात्माओं ने अपना निर्मल परिणाम कर सिद्धगति को प्राप्त कर लिया। इससे सिद्ध होता है कि करणानुयोग बाह्य पदार्थों को बाधक नहीं मानता। जिस प्रकार श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर देवकी उपसर्ग वाली अर्थात् धरणीधर रूप नागकी फण वाली प्रतिमा वर्तमान में पूजी जाती है इसी प्रकार क्या युधिष्ठरादि पांडवों की उपसर्ग की अवस्था की प्रतिमा पूजी जा सकती है? कदापि नहीं। क्योंकि पूजा चरणानुयोग में होती है और चरणानुयोग बाह्य पदार्थ के संयोगवाली मुनि अवस्था नहीं मानता है तब वीतराग अवस्था कैसी स्वीकार करेगा? यदि युद्धिष्ठिरादि पांडवों का उपसर्ग का फोटो लिया जावे तो वह फोटो परिग्रह सहित अवस्था का होगा या नग्न ही होगा? सोचना चाहिये। अनुयोग ज्ञान कराने का कारण है परन्तु विसंवाद कराने का कारण नहीं है। चरणानुयोग ऐसे गहने वाली पांडवों की प्रतिमा को सरागी की ही प्रतिमा कहकर उसकी पूजा

वंदना आदि नहीं कर सकता है। समयसार ग्रन्थ में भी लिखा है कि—

न हि शालितंदुलस्य बहिरंगतुषे विद्यमाने सत्यभ्यंतरतुषस्य त्यागः कुर्तुमायाति। अभ्यंतर तुषत्यागे सति बहिरंगतुषत्यागो नियमेन भवेत्यवे। अनेन न्यायेन सर्वसंगपरित्यागरूपे बहिरंगद्रव्यलिंगे सति भावलिंगं भवति न भवति वा नियमो नास्ति, अभ्यंतरे तु भावलिंगे सति सर्वसंगपरित्यागरूपं द्रव्यलिंगं भवत्येवेति। हे भगवन्! भावलिंगे सति बहिरंगद्रव्यलिंगं भवतीति नियमो नास्ति "साहारणासाहारणे" त्यादि वचनादिति? परिहारमाह कोऽपि तपोधनो ध्यानारूढस्तिष्ठति तस्य केनापि दुष्टभावेन वस्त्रवेष्टनं कृतं। आभरणादिकं वा कृतं। तथाप्यसौ निर्ग्रन्थ एव। कस्मात्? इतिचेत्। बुद्धिपूर्वकममत्वाभावात् पांडवादिवत्।

इससे सिद्ध होता है कि बाह्य परिग्रह का सद्भाव करणानुयोग बाधक नहीं मानता है, उसे तो चरणानुयोग ही बाधक मानता है।

श्वेताम्बर संप्रदायवाले श्री मल्लिनाथ भगवान तीर्थंकर का स्त्री पर्याय मानते हैं, पुरुष लिंग नहीं मानते हैं। क्योंकि उनके ज्ञातृधर्मकथांग में मल्लिनाथ के पूर्व

भवका वर्णन लिखा है। उसमें लिखा है कि मल्लिनाथ की आत्मा ने अपने मित्रके साथ मायाचार करके विशेष तप अनशन किया था, जिस मायाचार के कारण उसको नीच गोत्र का बन्ध पड़ गया था। वहां से मल्लिनाथ की आत्मा तो सर्वार्थ सिद्धि में गई और उसके मित्र जो कि मुनि अवस्था में थे वे भी अपराजित विमान वासी देव बने। मायाचार के भाव में तो पाप का ही बन्ध होना चाहिये। वह ऊपर विमान वासी देव बन गया और नीच गोत्रका जब बन्ध बांधा था तब देव पद में कैसे गया? देव तो नियम से उच्च गोत्री ही हैं। देव पर्याय से मरण कर मल्लिनाथ का जीव अपने पूर्व भव में बांधा हुए नीच गोत्र के कारण स्त्री लिंग में आया। परन्तु शान्त चित्तसे विचार करें तो पता लगे कि स्त्री का नीच गोत्र तो है ही नहीं। स्त्री भी उच्च गोत्री है। मनुष्य मात्र उच्च गोत्री है। सम्यग्दृष्टि आत्मा स्त्री लिंग में कैसे जन्म लेवेगा? नीच गोत्र वाले के तो पंचम गुणस्थान से आगे का भाव तो होता ही नहीं, तब वह तीर्थंकर आदि कैसे बना? परन्तु अनुयोग के न जानने से कहां गलती रह जाती है यह ध्यान में आता ही नहीं है। अनुयोग का ज्ञान करना मोक्षमार्ग में प्रधान कारण है। अनुयोग के ज्ञान बिना शास्त्र स्वाध्याय मात्र पुण्य बन्ध

का कारण है परन्तु वह परंपरा मोक्ष का कारण न बनकर संसार का ही कारण होता है।

करणानुयोग में प्रधानपना निमित्त का ही है? जिस प्रकार कर्म का उदय होगा उसी प्रकार ही नैमित्तिक आत्मा की अवस्था होगी। मनुष्य गति का उदय हुआ तब आत्मा को नियम से मनुष्य में आना ही पड़ा। मिथ्यात्व का उदय आने से आत्मा की परिणति नियम से मिथ्यात्व की होनी ही चाहिये। करणानुयोग में ही संयोग सम्बन्ध होता है। जो जीव निमित्त को नहीं स्वीकार करता उस जीव ने करणानुयोग माना नहीं। करणानुयोग को न मानने वाला एकान्त मिथ्यादृष्टि है। करणानुयोग में और द्रव्यानुयोग में भी परस्पर विरोध है। यदि दोनों अनुयोग समान कथन करते तो दो अनुयोग मिट कर एक अनुयोग बन जाता। परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है। सम्यग्दृष्टि आत्मा को भी स्वीकार करना पड़ता है कि अपनी इच्छा राग करने की नहीं है तो भी मोहनीय कर्म के उदय में कर्म की बरजोरी से आत्मा में रागादिक हो ही जाता है। यह किस की प्रधानता है? निमित्त की या उपादान की? अनंत वीर्य के धनी तीर्थंकर देव को भी अपने आत्मा के प्रदेश तीन लोक की बराबर कर्म के उदय से करने ही पड़ते हैं।

यह किसकी महिमा है ? द्रव्यानुयोग कहता है कि आत्मा चेतन प्राण से जीता है जब करणानुयोग कहता है कि आत्मा चार प्राणों से जीता है। द्रव्यानुयोग कहता है कि आत्मा खाता नहीं है तब करणानुयोग कहता है कि आत्मा खाता है। द्रव्यानुयोग कहता है कि आत्मा अमूर्तिक है तब करणानुयोग कहता है कि आत्मा मूर्तिक है। यदि मूर्त्तिक नहीं होता तो आत्मा को सुई लगनी नहीं चाहिये। द्रव्यानुयोग कहता है कि आत्मा असंख्यात प्रदेशी है जबकि करणानुगोग कहता है कि आत्मा स्वदेह प्रमाण है। द्रव्यानुयोग कहता है कि आत्मा ज्ञान से देखता है तब करणानुयोग कहता है आत्मा इंद्रियों से देखता है। ज्ञान का क्षयोपशम होते हुए भी इन्द्रिय बिना कैसे देखेगा ? करणानुयोग कहता है कि ज्ञान चेतना चौथे गुणस्थान से स्वीकार करता है जब द्रव्यानुयोग ज्ञान चेतना तेरहवें गुणस्थान से स्वीकार करता है। करणानुयोग एक समय में एक गुण की मिश्र परिणति स्वीकार करता है। जितने अंश में कर्म का अभाव हुआ है उतने अंश में तो ज्ञान धारा है और जितने अंश में कर्म का सद्भाव है उतने ही अंश में कर्म धारा स्वीकार करती है। जैसे एक मनुष्य को १०५ डिग्री ज्वर था। उसी को दूसरे दिन दो डिग्री ज्वर कम हो गया। उस काल में उसकी

तबियत अच्छी है जैसा कहा जाता है। तो भी विचार करना चाहिये कि वह जीव दो डिग्री ज्वर का अभाव का सुख का वेदन करता है या १०३ डिग्री ज्वर का सद्भाव का वेदन करता है। परन्तु द्रव्यानुयोग एक समय में एक अवस्था को स्वीकार करता है। कहा भी है कि—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं
तम्हा धम्म परिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो॥

अर्थ—द्रव्य जिस काल में जिस भाव से परिणमता है उसी काल में वह तन्मय है ऐसा जिनेन्द्र देव कहते हैं इसलिए धर्म परिणत आत्मा धर्म जानना।

यद्यपि कथन अलग अलग अनुयोग से किया जाता है तो भी द्रव्य तो जो है सो ही है। द्रव्य के प्ररूपण करने की रीतियां दो प्रकार की हैं। एक निश्चय से अर्थात् उपादान से कथन करना, दूसरी व्यवहार से अथवा निमित्त से कथन करना। उपादान से कथन करने से ही द्रव्य उपादान रूप नहीं हो जाता और निमित्त से कथन करने से द्रव्य निमित्त रूप नहीं हो जाता है। वह तो जैसा है तैसा ही है। उपादान से कथन करने वाले की दृष्टि यथार्थ है, और निमित्त से कथन करने वाली की दृष्टि निमित्ताश्रित है, ऐसा अभिप्राय करने वालों को यथार्थ ज्ञान नहीं है। यह तो मात्र कथन करने की शैली

है, उस पर से सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि का निर्णय नहीं हो सकता है। आध्यात्मिक शास्त्रों से आगम शास्त्र बहुत हैं एवं दोनों प्रकार के शास्त्र एक ही आचार्य श्री ने बनाए हैं तब वहां सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि किसे कहोगे? कथन तो श्रुत ज्ञान की पर्याय है और दृष्टि श्रद्धागुण की पर्याय है। दोनों अलग अलग गुणों की परिणति हैं। इसलिए कथन किसी भी अपेक्षा से किया जावे तो भी जिसकी दृष्टि यथार्थ है वही जीव सम्यग्दृष्टि है।

इसलिये अनुयोग के ज्ञान बिना ज्ञाता के अभिप्राय को नहीं जानने से जीव शास्त्राभ्यास करते हुए भी अज्ञानी ही रह जाता है इसलिये अनुयोग का ज्ञान करना मोक्षमार्ग में बहुत ही जरूरी है।

द्रव्यानुयोग—इस अनुयोग में प्रधान रूप से आत्मा की ओर से ही उपदेश दिया जाता है जो यथार्थ ही उपदेश है। इस उपदेश द्वारा ही आत्मा विशेष कर अपने कल्याण के माग को समझ सकता है। इस अनुयोग में उपचार से कथन नहीं किया जाता है। जिस कारण से आत्मा दुखी है वही यथार्थ कारण कहा जाता है। आत्मा अपने ही कारण से दुखी है और अपने ही कारण से सुखी होता है। आत्मा को सुखी दुखी करने वाला अन्य

कोई कारण संसार में नहीं है। अर्हंत देव निर्ग्रन्थ गुरु आदि कोई भी पर आत्मा का कल्याण नहीं कर सकता है। आत्मा का शत्रु-मित्र स्वयं आत्मा ही है। जैसे पेट में दर्द होने से चरणानुयोग कहेगा कि दाल खाने से पेट में दर्द होता है परन्तु चोके में दाल तो सबने खाई है। यदि दाल से दर्द होवे तो सबको दर्द होना चाहिये। करणानुयोग कहता है कि दर्द तो मात्र असाता के उदय से हुआ है। इसी प्रकार द्रव्यानुयोग कहता है कि महान असाता का उदय सुकौशल एवं गजकुमार मुनि को होते हुए भी उसने आत्मा की शान्ति एवं केवल ज्ञान की प्राप्ति की। इससे असाता का उदय पेट में दर्द होने का कारण नहीं है परन्तु अपना राग ही मात्र दुःख का कारण है। इसी प्रकार तीनों अनुयोग अपने २ पद में रह कर कथन करते हैं, तो भी तीनों अनुयोग एक दूसरे अनुयोग का निषेध नहीं करते हैं। यदि निषेध करते हैं तो एकान्त कथन करने से स्वयं मिथ्यात्व आ जाता है। यदि आत्मा स्वयं रागादिक करता है तो वेदान्त मत वाले जैसे परमात्मा को स्वयं रागादिक करा कर संसार में जन्म लेना मनाते हैं, ऐसे सिद्ध परमात्मा को भी स्वयं रागादिक कराकर संसार में वापिस आने का प्रसंग

आवेगा। इसलिये सब अनुयोगों को अपेक्षा से स्वीकार करना यही स्याद्वाद है और सम्यग्ज्ञान है।

द्रव्यानुयोग में प्रधानतया संवर निर्जरा का भेद नहीं पड़ता है, कारण कि सब गुणों की दो अवस्था होती हैं। १ शुद्ध २ अशुद्ध। परन्तु एक समय में एक ही अवस्था होगी। एक ही साथ में दो अवस्था अथवा मिश्र अवस्था द्रव्यानुयोग स्वीकार नहीं करता है जिस काल में ज्ञान गुण अशुद्ध परिणमन करता है उस काल में अज्ञान भाव ही है और जिस काल में शुद्ध परिणमन करता है उसी काल में ज्ञान भाव है। इसी प्रकार जिस काल में चारित्र गुण अशुद्ध परिणमन करता है उस काल में नियम से आकुलता ही है, और जिस काल में चारित्र गुण शुद्ध परिणमन करता है उस काल में निराकुलता ही है। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्यानुयोग में संवर निर्जरा का भेद नहीं है।

। ३ । द्रव्यानुयोग में गुणस्थान आदि भेद नहीं होता है, गुणस्थान का भेद तो करणानुयोग में ही होता है। जिस समय में आत्मा अशुद्ध परिणमन करता है उस काल में आत्मा संसारी है, और जिस समय में आत्मा शुद्ध परिणमन करता है उस समय में आत्मा की सिद्ध गति है। द्रव्यानुयोग पर पदार्थ को छोड़ने का उपदेश नहीं देता

है। वह तो दुःख का कारण जो मिथ्यात्वादि आत्मा के परिणाम हैं उन्हें ही छोड़ने का उपदेश देता है। द्रव्यानुयोग में पर पदार्थ साधक बाधक नहीं होते हैं। वहाँ साधक बाधक मानना मिथ्यात्व है। पर पदार्थ को साधक बाधक अन्य अनुयोग मानता है और उसी का नाम व्यवहार है। इसीलिये शास्त्र की पद्धति व वर्णन व्यवस्था का ज्ञान करना बहुत जरूरी है। इसलिये जिन जीवों को अपना कल्याण करने का भाव है उनको चारों अनुयोग का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। आगम ज्ञान बिना मात्र द्रव्य से मुनिलिंग भी धारण करना कार्य-साधक नहीं हो सकता है। यही बात भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने भी प्रवचनसार ग्रन्थ के चारित्राधिकार में गाथा २३३ में कही है कि—

आगमहीणो समणो णेवापाणं परं वियाणादि
अदिजाणंतोअट्ठेखवेदिकम्मा मणिकिधभिक्खु

अर्थ—आगम हीन साधु आत्मा और पर को नहीं जानता है। पदार्थ ज्ञान बिना भिक्षु किस प्रकार कर्मों का नाश करेगा ?

आगम का भाव एवं सूत्र का अर्थ किस प्रकार जानना चाहिये।

तत्वार्थ सूत्र में लिखा है कि सम्यग्दर्शनज्ञान

चारित्राणिमोक्षमार्गः। उसका भी अर्थ करने में बहुत जीवों से गलती होती है। जैसे—

प्रश्न—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति चतुर्थ गुण स्थान में होगई, चारित्र की प्राप्त बारहवें गुणस्थान के पहले समय में होगई और केवल ज्ञान की प्राप्ति तेरहवें गुण-स्थान के प्रथम समय में हो जाती है तो भी आत्मा को मोक्ष क्यों नहीं हुआ? क्योंकि सूत्रजी में तो लिखा है कि तीनों की एकता होने से ही मोक्ष होता है।

उत्तर—आत्मा में अनन्त गुणहैं, अनन्त गुण को जो धारण करे सो आत्मा है। आत्मा में चारित्र नामका भी गुण है। उस गुण की शुद्धता होजाना इतना ही "चारित्र" का अर्थ नहीं लेना चाहिये, परन्तु आत्मा के संपूर्ण गुणों की शुद्धता होना उसी का नाम आत्मा का चारित्र है, और ऐसी शुद्धता चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में ही होती है। चारित्र नामक गुण की शुद्धता बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में होती है परन्तु अव्याबाध गुण, अवगाहना गुण, शूक्ष्मत्वगुण, अगुरुलघुगुण, प्रदेश-त्वगुण और निष्क्रियत्व गुण की शुद्धता चौदहवें गुणस्थान के अन्त में ही होती है। ऐसी शुद्धता का नाम आत्मा का चारित्र है ऐसी शुद्धता होते ही आत्मा सिद्ध पद की प्राप्ति कर लेता है।

आत्मा में अनंत गुण हैं इसमें से जैसे ज्ञान और दर्शन चेतना देखने का गुण है वही लब्धि और उपयोग रूप रहते हैं, ऐसा आगम में लिखा है। यह सोचकर बहुत से जीव श्रद्धादि गुणोंको भी लब्धि व उपयोग रूप मान लेते हैं, एव अपने बनाये हुये शास्त्र में भी लिख देते हैं। परन्तु यह विचार नहीं करते हैं कि ज्ञान और दर्शन चेतना को लब्धि और उपयोग रूप किस अपेक्षा से कहा है और इसका क्या कारण है? इस विषय का ज्ञान न होने से श्रद्धा गुण—सम्यग्दर्शन को भी लब्धि और उपयोग रूप मान लिया करता है। जैसे श्रेणिक राजा क्षायक सम्यग्दृष्टि था परन्तु जब उसने आत्मघात किया तब उसका सम्यग्दर्शन लब्धि रूप था परन्तु उपयोग रूप नहीं था—यह उसका कहना गलत है अर्थात् अज्ञान भाव है। क्योंकि छद्मस्थ अवस्था में आत्मा का ज्ञान पराधीन है इसलिये ज्ञान करने में पांच इन्द्रिय और द्रव्य मन की सहायता लेनी पड़ती है। इस अपेक्षा से ज्ञान और दर्शन चेतनामें लब्धि और उपयोग का भेद पड़ता है अर्थात् जिस इन्द्रिय में ज्ञान उपयोग रूप है, बाकी की इन्द्रियों में ज्ञान लब्धि रूप है। अथवा जब मति ज्ञान उपयोग रूप है तब श्रुतादि और ज्ञान लब्धि रूप हैं, परन्तु श्रद्धादि गुणों का देखना जानना आदि

कार्य नहीं हैं। वह तो मिथ्यात्व रूप हो या सम्यग्दर्शन रूप हो, दो में एक अवस्था तो जरूर रहेगी। यदि सम्यग्दर्शन रूप अवस्था हो तो खाते पीते भोग करते सोते समय श्रद्धा गुण की सम्यग्दर्शन रूप अवस्था तो है वह गुण अवस्था बिना तो रहता ही नहीं, इसी कारण श्रद्धादि गुणों में लब्धि और उपयोग का भेद पड़ता ही नहीं है परन्तु लब्धि और उपयोग का भेद मात्र ज्ञान तथा दर्शन चेतना में ही पड़ता है ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिये।

चतुर्थ गुणस्थान में क्षायक सम्यग्दर्शन प्राप्त हुए बाद जैसे २ गुणस्थान बढ़ता है वैसे २ सम्यग्दर्शन में भी स्वच्छता की वृद्धि होती है ऐसी अमुक जीवों की धारणा है एवं अपने बनाये शास्त्र में इसी प्रकार लिख भी देते हैं—कि चतुर्थ गुणस्थान में जो क्षायक सम्यग्दर्शन है वह क्षायक सम्यग्दर्शन बढ़ते २ तेरहवें गुणस्थान में बहुत वृद्धि को प्राप्त होता है। अर्थात् जाज्वल्यमान ज्योति रूप होता है। यह सब मिथ्या भ्रम है। किस कर्म ने सम्यग्दर्शन की वृद्धि को रोक रखा था कि पीछे से सम्यग्दशन में जाज्वल्यमान ज्योति रूप वृद्धि हो गई? विचार तो करो कि जहाँ प्रतिपक्षी कम हो नहीं हैं तब गुण में वृद्धि किस कारण से होती है। शुद्ध अवस्था में

षट्गुणहानि वृद्धि होती है वह तो स्वभाव रूप परिणति है। इसमें तो वृद्धि और हानि रूप अवस्था होते विकार की वृद्धि और हानि नहीं है वह तो सहज स्वाभाविक अनादि अनंत अवस्था है। ऐसी षट्गुण हानि वृद्धि तो सर्व द्रव्यों में होती रहती है क्योंकि पदार्थ का स्वभाव ही ऐसा है। चतुर्थ गुण स्थान में जो क्षायक सम्यग्दर्शन है वही क्षायक सम्यग्दर्शन केवली तथा सिद्ध परमात्मा में है, क्षायक सम्यग्दर्शन में किंचित् फर्क नहीं है। फर्क तो तब हो सकता है जब सामने रोकने वाले प्रतिपक्षी कर्म का सद्भाव हो, परन्तु क्षायक सम्यग्दर्शन में प्रतिपक्षी कर्म का अत्यंत अभाव है, जिस कारण उसमें कुछ भी वृद्धि नहीं होती है।

परमात्म प्रकाश ग्रन्थ में सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन ऐसे जो दो भेद बताये हैं वह तो चारित्र की अपेक्षा से ही रखे हैं परन्तु सम्यग्दर्शन में सरागता और वीतरागता होती ही नहीं है, क्योंकि सरागता और वीतरागता तो चारित्र गुण की पर्याय है न कि श्रद्धागुण की। बुद्धि पूर्वक राग का सम्यग्दर्शन में आरोप कर सराग सम्यग्दशन कह दिया जाता है, और अबुद्धि पूर्वक राग का सम्यग्दर्शन में आरोपकर कहा जाता है कि वीतराग सम्यग्दर्शन। परन्तु यथार्थ में

सम्यग्दर्शन में न सरागता है न वीतरागता है, वह तो श्रद्धा नाम के गुण की एक शुद्ध निर्मल पर्याय है। सराग और वीतरागता का भेद चारित्र गुण में ही पड़ता है।

सम्यग्दर्शन को अवगाढ़ और परम अवगाढ़ जो कहा जाता है वह भी पर गुणों की अपेक्षा से कहा जाता है। सम्यग्दर्शन में तो न अवगाढ़ पना है न पर-मावगाढ़पना आता है। वह तो जो है सो ही है। परन्तु चारित्र गुण की शुद्धता अर्थात् वीतरागता होने से उसका सम्यग्दर्शन में अरोप कर अवगाढ़ सम्यग्दर्शन कहा जाता है, और ज्ञान गुण की शुद्ध अवस्था होने से अर्थात् केवल ज्ञान होने से उसका आरोप सम्यग्दर्शन में परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन कहा जाता है। परन्तु सम्यग्दर्शन में अवगाढ़ और परमावगाढ़ रूप शुद्धता भी बढ़ती नहीं है वह तो जैसी है वैसी ही है।

उसी प्रकार यथाख्यात चारित्र की पूर्णता ग्यारहवें बारहवें गुणस्थान के पहले समय में हो जाती है परन्तु चौदहवें गुण स्थान में परम यथाख्यात जो कहा जाता है वह तो पर गुणकी अपेक्षा से कहा जाता है। योग गुण को शुद्धता का आरोप चारित्र में कर कहा जाता है कि परम यथाख्यात चारित्र है तो भी चारित्र गुण में शुद्धता का कुछ बटवारा होता हो ऐसा नहीं है। यथाख्यात

चारित्र तो जैसा है वैसा ही है परन्तु परम यथाख्यात चारित्र मात्र योग गुण की शुद्धता की अपेक्षा से कहा जाता है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन होने में किसकी वाणी बाह्य निमित्त पड़ती है अर्थात् निश्चय सम्यग्दृष्टि की या व्यवहार सम्यग्दृष्टि की ?

उत्तर—जिस जीव को देशना लब्धि प्राप्त हो चुकी है अर्थात् जिस जीव को छह द्रव्य, नौ तत्व, पंचास्तिकाय आदिक का शाब्दिक ज्ञान है, भाव ज्ञान नहीं है ऐसा अभवी जीव के मुख से जो यथार्थ वाणी निकलती है वह वाणी सम्यग्दर्शन होने में कारण कही है। ऐसी वाणी जिसके मुख से निकलती है ऐसा जीवोंको व्यवहार सम्यग्दृष्टि कहा है। दर्शन पाहुड गाथा २९ में कहा भी है कि—

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रुवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥

अर्थ—छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पांच अस्तिकाय, सप्त तत्व यह जिन वचन में जैसे कहे हैं तिनका स्वरूप को जो श्रद्धान करे सो व्यवहार सम्यग्दृष्टि जानना।

शंका—व्यवहार सम्यग्दृष्टि की वाणी सम्यग्दर्शन में कारण कैसे पड़ सकती है क्योंकि कहा है कि सत

को सत निमित्त होता है परन्तु असत निमित सत को नहीं होता हैं।

समाधान—वक्ता का भाव सुना नहीं जाता है परन्तु श्रोता वक्ता की वाणी सुनते हैं। वह वाणी शुभ योग है। और वही व्यवहार सम्यग्दृष्टि का वचन रूप शुभ योग देशना लब्धि में कारण पड़ती है, परन्तु व्यवहार सम्यग्दृष्टि का भाव आपको कारण नहीं पड़ता है। वचन योग शुभ हो और भाव मलीन हो सकता है। जैसे एक मनुष्य सुंदर कंठ से भक्तामर स्तोत्र मंदिर में बोल रहा है और उस का भाव स्त्री के रूप देखने में हैं। ऐसे जीव का वचन योग सुनकर दूसरा जीव पुण्य बांध सकता है परन्तु उसका भाव देखकर पुण्य नहीं बांधता है। इस प्रकार व्यवहार सम्यग्दृष्टि का शुभ वचन योग देशना लब्धि में कारण पड़ता है परन्तु उसका भाव नहीं।

जैसे अव्रती सम्यग्दृष्टि में वर्तमान में मुनि पर्याय का भाव नहीं है तो भी वचन द्वारा वह कह सकते हैं कि मुनि पर्याय ऐसी होती है। वह उसका कहना क्या सत्य नहीं है। परन्तु उसका उस वचन अनुकूल भाव नहीं है। जैसे गौतम गणधर ने वचन द्वारा सूक्ष्म सांपरायका, वीतराग दशा का और केवलज्ञान का स्वरूप प्रतिपादन कर दिया तो क्या उसका भाव तद्रूप है? नहीं है, तो

भी उसका वचन केवलज्ञान होने में परंपरा कारण है। ऐसे ही व्यवहार सम्यग्दृष्टि का वचन योग देशना लब्धि में साक्षात् कारण है और सम्यग्दर्शन होने में परंपरा कारण है।

जैसे अंधे आदमी के पास में जलती लालटेन है, वह अंधे को रास्ता दिखाने में निमित्त नहीं है तो भी वह लालटेन दूसरे जीवों को रास्ता दिखाने में बाह्य निमित्त जरूर है।

वाणी निश्चय सम्यग्दृष्टि की ही होनी चाहिये, ऐसा कहना योग्य नहीं है, क्योंकि निश्चय सम्यग्दृष्टि स्वयं जब मिथ्यात्व में चला जाता है तब तुरन्त उसे भी ज्ञान नहीं होता। तब हम पर जीव कैसे निश्चय से कह सकते हैं कि यह निश्चय सम्यग्दृष्टि ही है। यह कहना अपने ज्ञानका विषय नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि देशना लब्धि व्यवहार सम्यग्दृष्टि से वाणी सुनने से आप वह वाणी धारणा में लावे तो बाह्य निमित्त बन सकती है। यदि आप धारणा में न लावे तो साक्षात् तीर्थंकर देवकी दिव्य ध्वनि भी देशना लब्धि में अकार्यकारी है। सम्यग्दर्शन होने में वाणी साक्षात् कारण नहीं है परन्तु परम्परा कारण है। क्योंकि देशना लब्धि तो अभव्य जीवको भी हो सकती है तो भी अभव्य जीवको सम्यग्द-

र्शन कभी भी नहीं हो सकता। इससे सिद्ध हुआ कि वाणी परम्परा कारण है।

अमुक जीवों की ऐसी धारणा है कि सम्यग्दर्शन होने में अभ्यंतर निमित्त आत्मा स्वयं है एवं अमुक जीव कहते हैं कि अभ्यन्तर निमित्त पर सम्यग्दृष्टि आत्मा है, ऐसा उनका कहना एवं शास्त्रों में लिख देना उचित नहीं है। प्रथम तो आत्मा यदि अभ्यन्तर निमित्त होता है, तो आत्मा तो त्रिकाली द्रव्य है वह अभी तक निमित्त होकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति क्यों न कर दे? सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का है। १ उपशम २ क्षयोपशम ३ क्षायक। आत्मा एक है, और सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का कैसे हो सकता है? इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन होने में आत्मा अभ्यंतर निमित्त नहीं है। दूसरा पक्ष कहता है कि सम्यग्दर्शन होने में अभ्यन्तर निमित्त पर-सम्यग्दृष्टि आत्मा है। परन्तु पर आत्मा अपना अभ्यन्तर निमित्त कैसे हो सकता है क्योंकि पर आत्मा के साथ में अपना निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है। अपना निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध तो अपना ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म है न कि पर जीव। इससे सिद्ध होता है, कि सम्यग्दर्शन होने में अभ्यन्तर निमित्त दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय है। नियम-

सार ग्रन्थ में गाथा ५३ में भी कहा है कि—

सम्मत्तस्स णिमित्तं, जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा। अंतरहेयो भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन होने में बाह्य निमित्त जिनवाणी तथा जिनवाणी के ज्ञान वाले पुरुष हैं और सम्यग्दर्शन होने में अभ्यन्तर निमित्त दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय है।

समयसार पुण्य अधिकार में गाथा १६१ में कहा भी है कि—

पडिणिवद्धं मिच्छतंजिणवरेहि परिकहियं तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिठ्ठित्ति णायव्यो

अर्थ—सम्यक्त्व का रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। उस मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है, ऐसा जानना चाहिये।

इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन होने में अभ्यन्तर निमित्त न स्वयं आत्मा है और न पर सम्यग्दृष्टि आत्माएँ हैं परन्तु दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम और क्षयोपशम अभ्यन्तर निमित्त है।

अमुक जीवों को ऐसी श्रद्धा हैं एवं अपने बनाये हुये शास्त्र में लिख भी देते हैं कि श्रद्धा में जोर मारने से चारित्र गुण की निर्मल पर्याय प्रकट होती है। ऐसा जीवों को अनेकांत का स्वरूप का ज्ञान न होने से वह अप्रतिबुद्ध आत्मा है। प्रथम तो चारित्र गुण में श्रद्धा गुण का अन्योन्य अभाव है। दूसरी बात यह है कि श्रद्धा गुण में यदि जोर मारने से चारित्र गुण की निर्मल पर्याय प्रगट होती है तो सर्वार्थ सिद्धि के देव श्रद्धावान हैं वह वहां श्रद्धा में जोर मारकर पंचमादि गुणस्थान रूप चारित्र गुण की निर्मल पर्याय क्यों नहीं प्रगट करता है? तेतीस सागर तक उसने श्रद्धा में जोर क्यों नहीं मारा? तीसरी बात यह कि श्रद्धा में जोर मारा ही नहीं जाता है। श्रद्धा तो एक ही प्रकार की होती है! श्रद्धा तो लक्षबिन्दु का नाम है और लक्षबिन्दु एक ही रहता है। जैसे चारित्र गुण अंश २ में शुद्धता प्रगट करता है ऐसे श्रद्धा गुण में बटवारा होता ही नहीं है। वह जैसा चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट होता है वैसा ही केवल ज्ञान में भी है एवं सिद्ध परमात्मा में भी है। इससे सिद्ध होता है कि श्रद्धा में जोर मारा ही नहीं जाता है, परन्तु जितना २ अंश में रागद्वेष की निवृत्ति होती जाती है उतना २ अंश में चारित्र गुण में निर्मलता प्रगट होती है। परन्तु

जिनको रागद्वेष छोड़ने का अभिप्राय नहीं है और निर्मल प्रवृति करते नहीं है वह जीव बकते हैं कि श्रद्धा में जोर मारने से चारित्र गुण की निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

लक्ष नियम से एक ही होता है। लक्ष में बटवारा कभी भी नहीं होता है। सम्यग्दष्टि और मिथ्यादृष्टि में लक्षबिन्दु का तो अन्तर है। सम्यग्दृष्टि का लक्ष निरन्तर ज्ञायक स्वभाव पर ही रहता है वह तो उसको किसी भी अवस्था में भूलता ही नहीं है। और मिथ्यादृष्टि तो मैं ज्ञायक स्वभावी हूँ-यह जानता श्रद्धता ही नहीं है। वह तो जीवतत्त्व को छोड़कर अन्य तत्व को ही आत्म तत्त्व मान रहा है। जैसे सुनार के लक्ष में सौटंच का सोना निरंतर रहता है—खाते वख्त, पीते बख्त, सोते बख्त, लड़ाई करते बख्त, वह उसको भूलता ही नहीं है। सौटंच को ही यथार्थ सोना जानता है, मानता है, परन्तु अशुद्ध सोने को सौटंच नहीं मानता है, नहीं जानता है। ऐसे ही सम्यग्दष्टि आत्मा मात्र जीव तत्व को अर्थात् ज्ञायक स्वभाव को ही अपना खास स्वरूप मानता है, श्रद्धता है। वह उसको खाते, पीते, सोते, बैठते, लड़ाई करते, भोग करते भूलता ही नहीं है। वह ज्ञायक स्वभाव में जोर क्या मारता है वह तो जैसा है तैसा ही तीनों काल में

है, परन्तु मिथ्यादृष्टि अजीवतत्त्व को जीव तत्त्व मानता है अर्थात् संयोगी पोग्दलिक पर्याय को आत्मा मान रहा है। यह दोनों में फर्क है-अन्तर है।

तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा है कि "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् (९-१) तत् प्रमाणे (१०-१) आद्ये परोक्षम् (११-१) प्रत्यक्षमन्यत् (१२-१)" "इसमें बहुत जीव महान गलती करते हैं और अपने बनाये हुए शास्त्रों में लिखते हैं कि—"अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।" परन्तु विचार भी नहीं करते हैं कि उसमें दो ज्ञान अवधि और मनःपर्यय क्षयोपशम ज्ञान हैं वह प्रत्यक्ष कैसे हो सकते हैं? अवधि ज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान इन्द्रियाँ एवं मन की सहायता बिना जानता है ऐसा लिखते हैं। परन्तु इसमें उनकी महान गलती ही है। अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान को जो एक देश प्रत्यक्ष कहा है उसका इतना ही अर्थ है कि अवभिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में इन्द्रियों की सहायता की जरूरत नहीं है, परन्तु क्षयोपशम ज्ञान होने से वहां मन की सहायता जरूर लेनी ही पड़ती है। यदि मन की सहायता न ली जाये तो अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान क्षयोपशम शक्ति होते हुए भी वह ज्ञान उपयोग रूप कार्य नहीं कर सकता, मात्र सत्ता रूप लब्धि में रहेगा।

उपयोग में तब ही कार्य करेगा जब मन की सहायता ली जावेगी। जब तक क्षयोपशम ज्ञान है तब तक अज्ञान भाव कहा है और संज्ञी मार्गणा क्षयोपशम ज्ञान तक ही मानी जाती है। क्षायक ज्ञान में न संज्ञी और न असंज्ञी पना है परन्तु दोनों विकल्प से रहित हैं। क्षयोपशम ज्ञान को सापेक्ष ज्ञान कहा जाता है और सापेक्ष का यही अर्थ है कि देखने में पर की अपेक्षा रखे। उसी का नाम सापेक्ष है। परन्तु निरपेक्ष ज्ञान तो मात्र क्षायक ज्ञान है जो देखने में किसी की अपेक्षा नहीं रखता है, परन्तु आत्मा के सर्व प्रदेशों से त्रिकालवर्ती चराचर सर्व पदार्थों को समय मात्र में जानता है। इससे सिद्ध होता है कि अवधि ज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान क्षयोपशम ज्ञान होने से पराधीन ज्ञान हैं और उनमें द्रव्य मन की सहायता ली जाती है। पंचाध्याय के पूर्वार्ध खण्ड की गाथा ६९९-७०५ में भी यह बात लिखी है। एवं प्रवचनसार ग्रन्थ के ज्ञानाधिकार की गाथा ५७ में भी यह बात सिद्ध की है।

तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा है कि—"मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च" (३१-१) यह सूत्र निमित्त की अपेक्षा से बनाया गया है। यथार्थ में विचारा जाय तो ज्ञान कभी

भी मिथ्यात्व रूप होता ही नहीं है। क्योंकि मिथ्यात्व श्रद्धा गुण की पर्याय है, जब मति श्रुत अवधि आदि ज्ञान गुण की पर्याय हैं। श्रद्धा गुण को घात करने वाली मिथ्यात्व नाम की द्रव्य कर्म की प्रकृति है। जब ज्ञान गुण को घात करने वाली पाँच ज्ञानावरण द्रव्य कर्म की प्रकृति है जिस कारण से ज्ञानगुण की अवस्था भी पाँच ही होती है। (१) मतिज्ञान (२) श्रुत-ज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनः पर्यय ज्ञान (५) केवल ज्ञान। परन्तु कुमति कुश्रुत और कुअवधि नाम की न ज्ञान की अवस्था हैं और न उस प्रकार की ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति हैं। ज्ञान को जो मिथ्या ज्ञान कहा जाता है वह तो श्रद्धागुण की मिथ्यात्व की पर्याय की अपेक्षा से कहा जाता है। सम्यग्दर्शन होने से उसी ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा जावेगा। और मिथ्यादर्शन होने से वही ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा जावेगा। यथार्थ में ज्ञान तो जो है सो ही है। ज्ञान तो कभी सम्यक् और मिथ्या होता ही नहीं है। जैसे मनुष्य के पास धन होने से उसको धनी कहा जा सकता है और धन के अभाव में उस ही मनुष्य को निर्धन कहा जाता है। तो भी मनुष्य तो वही का वही है, धनी और निर्धन धन की अपेक्षा से ही कहा जाता है। उसी प्रकार ज्ञान को मिथ्या और

सम्यक्, सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन की अपेक्षा से कहा जाता है तो भी ज्ञान तो जो है वही है।

ज्ञान का कार्य मात्र जानना ही है। ज्ञान को जो संशय आदि दोष दिया जाता है वह भी पर द्रव्यों की अपेक्षा से ही यथार्थ में दिया जाता है। ज्ञान में कभी दोष होता ही नहीं है। जैसे जेवरी में सर्प की कल्पना करना ज्ञान का दोष कहा जाता है। परन्तु यथार्थ में विचारा जावे तो ज्ञान के परिणमन में ज्ञान ने सर्प रूप ही परिणमन किया है, यदि ज्ञान में सर्प रूप परिणमन नहीं होता तो सर्प को मानकर भय क्यों उत्पन्न होता। परन्तु भय होता है और भय से बचने की कोशिश भी करता है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान ने सर्प रूप ही परिणमन किया है। परन्तु जेवरी की अपेक्षा से ज्ञान को विपरीत ज्ञान कहा जाता है तो भी ज्ञान की अपेक्षा से ज्ञान सत्य ही है। ज्ञान का कार्य मात्र जानना ही है। जितना कम जानता है वही मात्र ज्ञान का दोष है और ऐसा होना प्रतिपक्षी कर्मों के कारण से ही हो रहा है। जितना अंश में कर्मों की सत्ता है उतने ही अंशों में ज्ञान की नियम से हीन पर्याय है और ज्ञानावरण द्रव्य कर्म के अभाव में ज्ञान की पूर्ण अवस्था हो जाती है।

समयसार ग्रन्थ में लिखा है कि बन्ध के कारण

मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरत भाव हैं। यहाँ अज्ञान का अर्थ यदि मिथ्यात्व किया जावे तो भी गलत है क्योंकि मिथ्यात्व तो अलग बन्ध का कारण दिखाया है तब अज्ञान को मिथ्यात्व कहना उचित नहीं है। तब क्या अज्ञान का अर्थ ज्ञान का न होना करना चाहिये? यदि ज्ञान का न होना किया जावे तो ज्ञान का होना या न होना बंध का कारण नहीं है। यदि ज्ञान का हीनपना और ज्ञान का विशेषपना बन्ध का कारण माना जावे तो हीन ज्ञान वाले को बहुत बन्ध और विशेष ज्ञानवालों को कम बन्ध होना चाहिये। परन्तु ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है क्योंकि मुनि के हीन ज्ञान हैं और बन्ध भी कमती है और सर्वार्थसिद्धि देव के ज्ञानशक्ति बहुत होते हुए भी बन्ध विशेष है। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान का कम और विशेष होना बन्ध का कारण नहीं है। अज्ञान का अर्थ कषाय सहित ज्ञान उपयोग का नाम है। अर्थात् जिस ज्ञान के पीछे कषाय का पुञ्ज है उसीका नाम अज्ञान है और कषाय बन्ध का ही कारण है यह न्याय से सिद्ध होता है।

ज्ञान का कार्य घूम के देखना नहीं है परन्तु स्थिर रहकर देखना है। परन्तु ज्ञान के पीछे इच्छायें लगी हैं जिससे ज्ञान स्थिर न रहकर घूम कर देखता है। इसमें

जो इच्छाएँ हैं वे ही अज्ञान उपयोग कही जाती हैं।

नियमसार ग्रन्थ में शुद्धोपयोगाधिकार में प्रश्न उठाया गया है कि (गाथा नं० १६१) दर्शन चेतना आत्मा को जानती है और ज्ञान चेतना पर पदार्थ को जानती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा को ज्ञान चेतना जानती ही नहीं है। इसका ठीक-ठीक ज्ञान करना चाहिये। यथार्थ में तो आत्मा का दर्शन चेतना सामान्य अवलोकन करती है और ज्ञान चेतना विशेष अवलोकन करती है। स्व आत्मा की अपेक्षा से दर्शन चेतना आत्मा को अखण्ड देखती है, जिसे देखने में गुण गुणी भेद नहीं है, गुण पर्याय भेद नहीं है, परन्तु अभेद रूप आत्मा को अखण्ड रूप में देखती है। अर्थात ज्ञानघन रूप चैतन्य पिंड देखती है। यही देखना सम्यग्दर्शन अर्थात् श्रद्धान का विषय है अर्थात् लक्ष है जिसको जीव तत्व कहा जाता है। इस रूप से देखने का नाम सामान्य अवलोकन है। ज्ञान चेतना आत्मा के अनन्त गुण तथा उसकी पर्याय को जानती है। दर्शन चेतना ने अखण्ड आत्मा को देखा और ज्ञान चेतना ने अनन्तगुण पर्याय का विशेष समूह रूप जो आत्म-द्रव्य है उसको देखा। अर्थात् दोनों ने आत्मा को देखा है। पर द्रव्य की अपेक्षा से दर्शन चेतना एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय को

देखने के लिये ज्ञानोपयोग लगाता है तब एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय के बीच में जो क्षेत्र और काल का अन्तर पड़ता है उसका नाम सामान्य अवलोकन है जिसे देखना निर्विकल्प रूप है और ज्ञान चेतना ज्ञेय को देखता है उसीका नाम विशेष अवलोकन है। दर्शन चेतना ने जो सामान्य अवलोकन किया। वह यथार्थ में वचन से अगोचर है तो भी ज्ञान में आ सकता है और ज्ञेय को देखता है वह ज्ञान का ही कार्य है।

नियमसार ग्रन्थ के जीवाधिकार की गाथा १५ की टीका में अखण्ड त्रिकाल कारण शुद्ध पर्याय आत्मा में है, ऐसा लिखा है। इसके विषय में किसी २ की ऐसी धारणा है कि त्रिकालिक शुद्ध कारण पर्याय कूटस्थ है। परन्तु सोचिए तो सही कि कोई वस्तु संसार में कूटस्थ नहीं है क्योंकि सर्व पदार्थ सत हैं और सत का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। सो कूटस्थ मानना न्याय युक्त नहीं है। ऐसी कूटस्थ अवस्था मानने वाले जीवने सब पदार्थ परिवर्तनशील हैं, ऐसा माना नहीं। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एक समय की अवस्था है। एक समय की अवस्था होते हुए भी तीनों ही स्वतन्त्र हैं। उत्पाद है वह व्यय और ध्रौव्य नहीं है। व्यय है वह उत्पाद-ध्रौव्य नहीं है, और ध्रौव्य है वह उत्पाद-व्यय नहीं है। वस्तु का

स्वभाव ही ऐसा है। अब सोचिए आपको तीन में से अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में से एक का ही ज्ञान होना चाहिये ? अर्थात् जब उत्पाद का ज्ञान करोगे तब व्यय का ज्ञान नहीं होगा। और ध्रौव्य का ज्ञान करोगे तब उत्पाद-व्यय का ज्ञान नहीं होगा। वस्तु का स्वरूप ऐसा होते हुये भी छद्मस्थ जीवों को भूत और भविष्य का ज्ञान होता है। उसका क्या कारण है ? इस पर विचार करने से प्रतीत होता है कि जो हमको भूत भविष्य का ज्ञान कराता है वही अखण्ड त्रिकाली कारण शुद्ध पर्याय है। वह कारण शुद्ध पर्याय न होवे तो एक समय के पहले की अवस्था का ज्ञान नहीं हो सकता है इसलिए अखण्ड अनादि अनंत त्रिकालिक कारण शुद्ध पर्याय कूटस्थ नहीं है, परन्तु परिणमनशील है और वह सब जीवात्मा में है।

शंका—अखण्ड त्रिकालिक कारण शुद्ध पर्याय कूटस्थ है वह तो द्रव्यार्थिक नय से कहा है ?

समाधान—कारण परमात्मा द्रव्यार्थिक नयका विषय है परन्तु कारण पर्याय द्रव्यार्थिक नय का विषय नहीं है। क्योंकि यह पर्यायार्थिक नय का विषय है। मूल गाथा भी तो पर्यायार्थिक नय का विषय है इसकी टोका भी तो पर्यायार्थिक नय से की जावेगी या द्रव्यार्थिक नय से, विचारना चाहिये। क्योंकि द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक

नय दोनों परस्पर विरोधी हैं। देखिये मूल गाथा—

णरणारयतिरियसुरा, पज्जायाते विभावमिदि भणिदा। कम्मोपाधिविवज्जिय, पज्जाया ते सहाव मिदि भणिदा॥

अर्थ—नर नारकी तिर्यंच और देव ये चार विभाव पर्याय कही गई हैं, जो पर्याय कर्मों की उपाधि से रहित है वह स्वभाव पर्याय है।

तत्वार्थ सूत्र में लिखा है कि "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" (२-१४) इसका ठीक २ अर्थ समझना चाहिये। लब्धि किसका नाम है और उपयोग किसका नाम है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो ज्ञान की प्राप्ति हुई वह तो लब्धि है। लब्धि आत्मा के संपूर्ण प्रदेशों में समान पाई जाती है। अमुक प्रदेशों में लब्धि है और अमुक प्रदेशों में लब्धि नहीं है ऐसा वस्तु का स्वभाव नहीं है। क्योंकि आत्मा अखण्ड द्रव्य है, आत्मा का असंख्यात प्रदेश टुकड़ा २ नहीं है। छद्मस्थ जीवों का ज्ञानोपयोग पराधीन है, अर्थात् इन्द्रियों के आधीन ज्ञान होता है। जिस समय आत्मा मतिज्ञान से देखता है उसी समय में श्रुत ज्ञान लब्धि रूप है और जब आत्मा श्रुत ज्ञान से देखता है तब मतिज्ञान लब्धि रूप है। जिस

समय आत्मा जिस इन्द्रिय द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है उस समय उसी इन्द्रिय में ज्ञान उपयोग रूप है और बाकी की इन्द्रियों में ज्ञान लब्धि रूप है। जिस समय आत्मा चक्षु इन्द्रिय द्वारा तीर्थंकर की प्रतिमा देखता है उस समय ज्ञान चक्षु इन्द्रिय में उपयोग रूप हैं और शेष इंन्द्रियों में ज्ञान लब्धि रूप है। जिस समय में डाक्टर हाथ के अमुक भाग में इनजेकशन मार के चमड़ी खराब अर्थात् मुर्दा रूप बना देता है तब उतने भाग में ज्ञान नहीं होता है, परन्तु बाकी के भाग से ज्ञान होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि इतने हिस्से में आत्मा नहीं है परन्तु चमड़ी खराब हो जाने से इतने ही हिस्से में आत्मा का ज्ञान लब्धि रूप है और बाकी के हिस्से में उसी इन्द्रिय में ज्ञान उपयोग रूप है। जिस समय डाक्टर एक मनुष्य का ऑपरेशन करता है उस वख्त क्लोरोफार्म सुंघता है उसके बाद मनुष्य को किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा ज्ञान रहित हो गया है। परन्तु क्लोरोफार्म द्वारा जड़ इन्द्रियाँ खराब हो जाने से आत्मा के ज्ञान निमित्त के अभाव से उपयोग रूप कार्य नहीं करता है परन्तु उसी काल में ज्ञान लब्धि रूप है। भगवन कुन्दकुन्द स्वामी ने भी ज्ञान की पराधीनता की बात श्री प्रवचनसार ग्रन्थ

के ज्ञानाधिकार को गाथा ५५ आदि में कहा है कि—

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगेरिह त्ता जोग्गं जाणदिया तएण जाणादि ॥

अर्थ—स्वयं अमूर्त आत्मा मूर्त शरीर के प्राप्त होने से मूर्त शरीर द्वारा योग्य मूर्त पदार्थ को अवगृहीत कर उसको जानता है अथवा नहीं जानता है, अर्थात् कभी जानता है कभी नहीं जानता है। यही बात पंचाध्यायी ग्रन्थ में गाथा ३००-३०१ में कहा है कि—

ऐतेषु हेतुभूतेषु सत्सु सद्भान् संभावत्।
रुपणौकेन हीनेषु ज्ञानं नार्थोपयोगि तत्॥३००॥
अस्ति तत्र विशेषोऽयं विना बाह्यं न हेतुना।
ज्ञानं नार्थोपयोगीति लब्धिज्ञानस्य दर्शनात्।

अर्थ—पंचेन्द्रिय कर्म, मानसकर्म, पर्याप्तकर्म, इन्द्रियादिक की रचना, सूर्यादिक का प्रकाश अन्य देशस्थ संस्कार आदि समस्त निमित्तों के सद्भाव में ही वस्तु का ठीक २ ज्ञान होना संभव है। यदि इन कारणों में से कोई भी निमित्त कम हो तो पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। यहां पर इतना विशेष समझना चाहिये कि क्षयोपशम (लब्धि) ज्ञान के होने पर भी बिना बाह्य

कारणों के निमित्तों के मिले पदार्थ का ज्ञान (उपयोग रूप) नहीं हो सकता है।

आत्मा तीन काल में उपयोग छोड़ कुछ करता ही नहीं है ऐसा अमुक महाशयों की धारणा है। इतना ही नहीं बल्कि अपने बनाये हुये शास्त्रों में भी ऐसा लिख दिया है। यह उनका कहना एवं लिखना आगम विरुद्ध है। क्योंकि संसार अवस्था में आत्मा योग अर्थात् अपना आत्मीक प्रदेशों का हलन चलन करना, और उपयोग अर्थात् पुण्य भाव पाप भाव और वीतराग भाव ये दोनों कार्यों का कर्ता है, और मोक्ष अवस्था में मात्र वीतराग भाव रूप उपयोग का ही कर्त्ता है। योग को संसार अवस्था में कर्त्ता नहीं माना जाय तो सब क्रिया जड़ की होती है ऐसा मानने का प्रसंग आता है। आत्मा की क्रिया को जड़ की क्रिया मानना मिथ्यात्व भाव है। केवली परमात्मा का उपयोग शुद्ध होने पर भी उनके बचन और काय योग हैं इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा संसार अवस्था में योग तथा उपयोग का कर्त्ता है।

पंचाध्यायी उतरार्द्ध में गाथा नं० ४०७ में स्वानुभूति को ज्ञान की पर्याय उपचार से कही है। यथार्थ में स्वानुभूति मतिज्ञान की पर्याय नहीं है। मतिज्ञान का कार्य जानना है। परन्तु मतिज्ञान का विषय सुख रूप

होना या दुःख रूप होना नहीं है। सर्व अवस्था को ज्ञान ही जानता है। इसी कारण सर्व व्यवहार का आरोप ज्ञान में ही किया जाता है। परन्तु सुख का कार्य मतिज्ञान का नहीं है। एवं आकुलता एवं अनाकुलता ज्ञान की पर्याय नहीं है वह तो चारित्र गुण की पर्याय है। जैसे-जैसे गुण-स्थान बढ़ता है उसी प्रकार स्वानुभूति भी बढ़ती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि मतिज्ञान की पर्याय विशेष बढ़ती है। जैसे शिवभूति मुनि को मतिज्ञान महाहीन था परन्तु चतुर्थगुणस्थान से उनमें स्वानुभूति विशेष थी इससे साबित होता है कि स्वानुभूति मतिज्ञान की पर्याय नहीं है परन्तु चारित्र की पर्याय है। सर्वार्थसिद्धि के देव को परम शुक्ल लेश्या है परन्तु उसकी जो स्वानुभूति है उससे महान विशेष स्वानुभूति मुनि महाराज को भोजन के वक्त पीत लेश्या में है। यद्यपि ज्ञान की पर्याय सर्वार्थ-सिद्धि देव को विशेष है परन्तु स्वानुभूति मुनि महाराज जितनी नहीं है। ज्ञानावरण कर्म में स्वानुभूति नाम का कर्म नहीं है, परन्तु यथार्थ में अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव में स्वरूपाचरण चारित्र होता है उसीका नाम तो स्वानुभूति है अर्थात् वह चारित्र गुण की पर्याय है। शास्त्रों में कहा है कि ज्ञानोपयोग दूसरी जगह पर होता है तो भी स्वानुभूति तो नियम से आत्मा में रहती है।

इससे भी सिद्ध होता है कि स्वानुभूति की उपयोग के साथ विषम व्याप्ति है। ज्ञान लब्धि और उपयोग रूप रहता है परन्तु आत्म शान्ति अर्थात् स्वानुभूति में लब्धि उपयोग का भेद नहीं पड़ता है वह तो निरंतर रहती है। जितनी कषाय का अभाव है उतनी शान्ति-स्वानुभूति खाते वक्त, लड़ाई में लड़ते वक्त एवं निद्रा में भी अपना कार्य करती है। इसका नाम स्वानुभूति कहो, अनकूल दशा कहो, चारित्र गुण की शुद्धता कहो, कषाय का अभाव कहो, जो चाहे वह नाम रखो उसमें बाधा नहीं हैं, सब एक ही अर्थवाची हैं।

गोम्मटसार तथा चौबीसठाना में लिखा है कि अवधि दर्शन चतुर्थ गुणस्थान से होता है। तब क्या मिथ्यात्व में अवधि दर्शन होता ही नहीं है? दर्शन चेतना बिना ज्ञान चेतना होती ही नहीं यह सिद्धान्त है। अर्थात् सामान्य अवलोकन बिना विशेष अवलोकन होता ही नहीं है। मिथ्यात्व गुणस्थान में विभंगावधिज्ञान होता है तब विभंगावधि दर्शन तो होता ही नहीं। तब विभंगावधिज्ञान होने में कारण कौन है। क्या चक्षु-अचक्षु दर्शन पूर्वक विभंगावधिज्ञान होता है? नहीं, विभंगावधिज्ञान के पूर्व अवधि दर्शन होना ही चाहिये? अवधि दर्शन बिना विभंगावधिज्ञान होता ही नहीं है।

तब गोम्मटसार में अवधिदर्शन चौथे गुणस्थान से होता है ऐसा क्यों लिखा ? दर्शन चेतना मिथ्या होता ही नहीं है, कारण कि सामान्य अवलोकन वचनातीत है। इसी-लिये उसमें संशयादि दोष होता ही नहीं। जब ज्ञान मिथ्या होता है इसीलिए मिथ्याज्ञान में सम्यक् अवधि-दर्शन कहना उचित नहीं समझकर उसको चतुर्थ गुण-स्थान से माना है। परन्तु यथार्थ में अवधिदर्शन मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होता है। ऐसा श्रद्धान रखना चाहिए। क्योंकि दर्शन चेतना पूर्वक ही ज्ञान चेतना होती है यह तो सिद्धान्त है।

हरेक कर्म जो उदय में आता है वह नियम से फल देकर ही खिरता है। उदय में आया हुआ कर्म फल दिए बिना खिर पावे ऐसा सिद्धान्त नहीं है। तब हरेक कर्म क्या-क्या फल देता है इसका ठीक-ठीक ज्ञान करना चाहिए। ज्ञानावरणीय कर्म भी समय-समय में उदय में आता है, वह अपना फल देकर ही खिर जाता है। कर्म का फल नियम से आत्मा को बाधा देने वाला ही है।

शंका—हम अच्छी तरह से चक्षु द्वारा प्रतिमाजी को देख रहे हैं और उसे देखने में कुछ बाधा भी नहीं होती है और उसी समय में ज्ञानावरणादि कर्म का उदय है। तब उस उदय ने आत्मा को देखने में क्या बाधा

डाली ? क्योंकि कर्म का फल तो नियम से बाधा देता ही है ?

समाधान—आत्मा अखण्ड द्रव्य है और उसको ज्ञान का क्षयोपशम भी सर्व प्रदेशों में समान है। अमुक प्रदेशों में अमुक जाति का ही क्षयोपशम है ऐसा वस्तु का स्वभाव नहीं है। अर्थात् अमुक प्रदेशों से रूप का ही ज्ञान हो, अमुक प्रदेशों से रस का ही ज्ञान हो, अमुक प्रदेशों से गंध का ही ज्ञान हो ऐसा स्वभाव नहीं है। तो भी सम्पूर्ण प्रदेशों से रूप आदि का ज्ञान न होने का क्या कारण है ? वर्तमान कर्म के उदय ने आपकी उस शक्ति को रोक रखा है कि यदि रूप का ज्ञान करना है तो चक्षु द्वारा ही करो। यदि रस का ज्ञान करना है तो रसना इन्द्रिय द्वारा ही ज्ञान करो। यह तो वर्तमान कर्म का उदय का फल है। यद्यपि क्षयोपशम सम्पूर्ण आत्म-प्रदेशों के समान हैं। इसीका नाम तो क्षयोपशमिक ज्ञान है अर्थात् सापेक्ष ज्ञान है। पर द्रव्य की अपेक्षा रखकर ज्ञान होवे उसीका नाम सापेक्ष ज्ञान है और जो पर द्रव्य की अपेक्षा बिना ही आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों से ज्ञान हो वही निर्विकल्प अर्थात् क्षायक ज्ञान है। यह दोनों ही ज्ञान में विशेषता है। क्षयोपशम ज्ञान पर की सहायता बिना होता ही नहीं है इस कारण तो बारहवें गुणस्थान

तक अज्ञान ज्ञान अथवा पराधीन ज्ञान कहा गया है।

चतुर्थ अणुव्रत का नाम स्वदारा संतोष अणुव्रत कहा जाता है जिसका अर्थ बहुत से जीव स्वदारा में संतोष या स्वदारा भोगना यह अर्थ कर उसी को व्रत मानते हैं। परन्तु विचार भी नहीं करते हैं कि स्वदारा भोगने का भाव है वह व्रत कैसे हो सकता है? परन्तु इसका अर्थ यह है कि पर दारा भोगने के भाव का जो अभाव हुआ है वह व्रत है और स्वदारा भोगने का भाव है वह तो अव्रत है। उसी प्रकार शुद्ध आहार करने के भाव को बहुत से जीव पुण्य भाव मानते हैं परन्तु शुद्ध आहार करने का भाव तो पाप भाव है परन्तु अशुद्ध आहार करने का भाव जो मिट गया है वही पुण्य भाव है। शुद्ध आहार तो स्वदारा भोगने रूप हैं और अशुद्ध आहार पर दारा भोगने रूप है। परन्तु अशुद्ध आहार करने का भाव मिट गया वही पुण्य भाव है।

तत्वार्थ सूत्र में नवम अध्याय में लिखा है कि "सगुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः" (२) इसका अर्थ करने में जीव महान गलती करता है।

कायको हिलाना नहीं, एक आसन में रखना, बोलना नहीं परन्तु मौन रखना और मन में पाप को चिन्तवन न करना इसी को गुप्ति मान कर उसी को धर्म मानता है

परन्तु यह संवर भाव नहीं है। यह तो पुण्य भाव है। उसको व्यवहार से कहा जाता है परन्तु यथार्थ में वह तो पुण्य भाव है। उसका यथार्थ में संवर तो तेरहवें गुण-स्थान के अंत में ही होता है क्योंकि यह तीनों योग हैं और योग का संवर केवली भगवान को भी तेरहवें गुण-स्थान के अंत में ही होता है।

बहुत से जीव समिति को संवर मानते हैं परन्तु यह संवर भाव नहीं है। समिति तो प्रवृत्ति रूप है और प्रवृत्ति संवर कैसे हो सकती है। यह तो कर्म चेतना है और कर्म चेतना तो बन्ध का ही कारण है। मेरे द्वारा जीवों का घात न होवे इस अभिप्राय को लेकर चार हाथ जमीन शोधकर चलना वह जीवों की रक्षा का भाव है और वह पुण्य भाव है संवर भाव नहीं है। एषणा समिति में तो ४६ दोष और ३२ अन्तराय टालने का जो भाव है वह पुण्य भाव है परन्तु शुद्धाहार लेने का भाव पुण्य भाव नहीं है परन्तु पाप भाव है प्रवृत्ति रूप समिति को संवर मानना मिथ्यात्व भाव है।

मुनि के दश धर्म "उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्य-संयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः" उत्तम क्षमा आदि को जो धर्म कहा है वह तो व्यवहार धर्म है अर्थात् पुण्य भाव है। वह संवर भाव नहीं है क्योंकि इस धर्म

का तो अभव्य द्रव्य लिंगी मुनि भी पालन करता है। यथार्थ में धर्म तो वीतराग भाव का नाम है। व्यवहार रूप पुण्य भाव रूप धर्म को संवर मानना मिथ्यात्व है। यह दशों प्रकार के मुनि धर्म पुण्य भाव हैं। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में गाथा ४०८ में कहा भी है कि—

एदे दहप्पयारा पापकम्मस्स णासिया भणिया।
पुण्णस्स य संजणया पर पुण्णत्थं ण कायव्वा॥

अर्थ—यह दश प्रकार के मुनि धर्म के जो भेद हैं वह पाप कर्म के नाश करने वाले तथा पुण्य कर्म को उत्पन्न करने वाले हैं परन्तु इनको मात्र पुण्य भाव के अर्थ अंगीकार नहीं करना। पुण्य भाव को धर्म कहना व्यवहार है परन्तु पुण्य भाव को धर्म मानना मिथ्यात्व है।

बारह प्रकार की भावना का भाव-अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आश्रव, संवर, निर्जरा लोक, बोधि दुर्लभ और धर्म का चिन्तवन करना संवर नहीं है। इसको तो व्यवहार से संवर कहा है। यथार्थ में यह तो पुण्य भाव है, यह तो कर्म चेतना के भाव हैं इसको संवर मानना मिथ्यात्व भाव है। संवर भाव तो ज्ञान चेतना का नाम है। चिन्तवन करने का भाव तो विकल्प है वह विकल्प रूप भाव संवर कैसे हो सकता है?

संवर तो निर्विकल्पक भाव का अर्थात् वीतराग भाव का नाम है।

बाईस परिषह-क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक-नग्नता, अरति, स्त्री चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन को जीतने के भाव को संवर कहा है। परन्तु यह तो व्यवहार से कहा है। यथार्थ में परिषह जीतने का भाव पुण्य भाव है। यह तो कर्म चेतना है और कर्म चेतना बन्धन भाव है और संवर भाव तो ज्ञान चेतना का नाम है। बाईस परिषह रूप पुण्य भाव को संवर मानना मिथ्यात्व है। परन्तु पुण्य भाव को धर्म कहना व्यवहार है।

तत्वार्थ सूत्र के नवें अध्याय के तीसरे सूत्र में लिखा है कि "तपसा निर्जरा च" अर्थात् तप से निर्जरा होती है। यथार्थ में विचारा जावे तो बारह प्रकार के तप-अनशन अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्या-सन, कायक्लेश यह बाह्य तप हैं और अभ्यंतर तप प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान हैं इन बारह प्रकार के तप से निर्जरा नहीं होती है अर्थात् यह भाव निर्जरा तत्व नहीं हैं परन्तु इनसे पुण्य का बन्ध पड़ता है अर्थात् वह पुण्य तत्व है। तप के

भाव से पाप की निर्जरा होती है और पुण्य बन्ध पड़ते हैं।

शंका—तब तप से निर्जरा क्यों कही ?

समाधान—तप से निर्जरा जरूर होती है। परन्तु तप का लक्षण "इच्छा निरोध" कहा है। जहां इच्छा का अभाव होता है वहां निर्जरा होती है। परन्तु बारह प्रकार के तप में इच्छा का अभाव नहीं होता है बल्कि इच्छा दब जाती है। जैसे आज उपवास का भाव रखा ; परन्तु कल तो खाने का भाव है ? तब खाने के भाव का अभाव नहीं हुआ, परन्तु एक दिन के लिए खाने के भाव को दबा दिया है।

शंका—इच्छा निरोध का अर्थ तो इच्छा रोकना है और उपवास में एक दिन के लिए इच्छा रोकी ही है ? तब निर्जरा क्यों न होवे।

समाधान—इसमें निरोध का अर्थ रोकना नहीं है, परन्तु अभाव समझना चाहिए। क्योंकि अभाव भाव निर्जरा है और रोकना यह भाव पुण्य भाव है। जैसे एक मनुष्य ने सब वनस्पति का त्याग कर मात्र ५० वनस्पति खाने को रखी है। इधर जो वनस्पति जीवन भर त्याग किया है वह तो निर्जरा भाव है। निर्जरा में जीवन भर का त्याग होता है। उसी मनुष्य ने ५० वनस्पति में से ४० वनस्पति का अमुक मास के लिए त्याग किया और

दश वनस्पति खाता है। जो ४० वनस्पति का अमुक मास के लिये त्याग किया है वह पुण्य भाव है क्योंकि वहां अमुक मास बाद उस वनस्पति को खाने का भाव है अतः भाव को इतना मास तक रोका है परन्तु इच्छा का अभाव नहीं हुआ है इसलिये रोकने के भाव से पुण्य बन्ध है और जो १० वनस्पति खाता है वह तो पाप भाव है। इसी प्रकार उपवास आदि में भाव रोका जाता है परन्तु भाव का अभाव होता ही नहीं। इसलिये उपवासादि भाव पुण्य भाव हैं परन्तु निर्जरा के भाव नहीं हैं।

देखिये चतुर्थ गुणस्थान वर्त्ती जीव बहुत ही उपवास करता है और पंचम गुणस्थान वर्ती जीव एक दफा भोजन करता है, इन दोनों में निर्जरा एवं आत्मिक शान्ति किस को विशेष है ? चतुर्थ गुणस्थान से पंचम गुणस्थान वर्त्ती जीव में विशेष निर्जरा एवं शान्ति है, क्योंकि पंचम गुण-स्थानवर्ती जीवको प्रत्याख्यान और संज्वलन कषाय का बन्ध पड़ता है जब चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवको तीन कषाय का बन्ध पड़ता है। इससे सिद्ध हुआ कि अन-शनादि तप से निर्जरा नहीं होती है परन्तु मात्र पुण्य बन्ध पड़ता है। यही बात श्री कुन्द-कुन्द स्वामी ने प्रव-चनसार ग्रन्थ के ज्ञानाधिकार की गाथा ६९ में कहा है कि—

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उपवासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पो ॥

अर्थ—देव, गुरु और यति की पूजा में, दान में, सुशीलों में, तथा उपवासादि में जो आत्मा की प्रीति है वह शुभोपयोग रूप आत्मा के परिणाम हैं।

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और शूक्ष्मसांपराय को संयम कहा गया है वह यथार्थ में संयम भाव नहीं है। परंतु संयम भाव में मल उत्पन्न करना है अर्थात् वह तो पुण्य भाव है। त्रिकाल में सामायिक करना यह तो कर्म चेतना का भाव है--पुण्य भाव है। अठाईस मूल गुणों को यथार्थ पालन करना अथवा अठाईस मूल गुणों के दोष न लग जावे ऐसा जो शुभोपयोग इसी का नाम छेदोपस्थापना संयम है। वह पुण्य भाव है। यह संयम तो अभवी द्रव्य लिंगी भी पालन करता है। परिहार विशुद्धि संयम में भी प्राणियों की हिंसा का परिहार रूप शुभ विकल्प का नाम परिहार विशुद्धि संयम कहा जाता है। यह भी पुण्य भाव है। संयम में मल लगाने वाला है। शूक्ष्मसांपराय में शूक्ष्म लोभ का जो विकल्प रह जाता ह उसी का नाम शूक्ष्म सांपराय संयम है यह भी पुण्य भाव है। यह संयम नहीं परन्तु संयम में दोष लगाने वाला है। इसी को व्यवहार संयम कहा

जाता है। यथार्थ में जो वीतराग भाव की प्राप्ति हुई है। वही संयम और उसके साथ में जो शुभ विकल्प है उसी को व्यवहार संयम कहा जाता है। यथार्थ में यह तो बन्ध के भाव हैं संयम भाव नहीं हैं। जैसे मैल संयुक्त शक्कर को शक्कर कहा जाता है परन्तु यथार्थ में मैल शक्कर नहीं है वह तो शक्कर का दोष है उसी प्रकार वीतराग भाव रूप शक्कर में यह आरोप संयम मैल रूप है। यह तो दोष है इसी का अभाव करने से ही यथाख्यात संयम की प्राप्ति होती है। इसके सद्भाव में यथाख्यात संयम की प्राप्ति होती नहीं है।

तत्वार्थ सूत्र में धर्म ध्यान के चार पाये दिखाये हैं। (१) आज्ञा विचय (२) अपाय विचय (३) विपाक विचय (४) संस्थान विचय। धर्मध्यान सम्यग्दृष्टि जीव को ही होता है ऐसा बहुत ग्रन्थों में लिखा है। चतुर्थ गुण-स्थान में धर्म ध्यान का पहला पाया होता है। पंचम गुणस्थान में धर्म ध्यान का दूसरा पाया होता है, छठवें गुणस्थान में धर्म ध्यान का तीसरा पाया होता है। और सप्तम गुणस्थान में धर्म ध्यान का चौथा पाया होता है। इसी प्रकार अलग २ ग्रन्थों में लिखा है। परन्तु यह परमार्थ नहीं है। यह धर्मध्यान नहीं है। यह तो धर्म ध्यान के मल है। अर्थात् धर्मध्यान में दोष है अर्थात्

पुण्य भाव है। यह व्यवहार धर्मध्यान है जो अभव्य मिथ्यादृष्टि को भी होता है। यथार्थ में धर्मध्यान तो वीतराग भाव का नाम है जो निश्चय धर्मध्यान है जो सम्यग्दृष्टि को ही होता है। अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव यह प्रथम पाया है, अप्रत्याख्यान कषाय का अभाव यह दूसरा पाया है, प्रत्याख्यान कषाय का अभाव यह तीसरा पाया है और प्रमाद का अभाव यह चौथा पाया है। इसी प्रकार परमार्थ अर्थ समझना चाहिये।

बहुत से जीव ध्यान को ज्ञान गुण की पर्याय मानते हैं परन्तु उनकी यह मान्यता यथार्थ नहीं है। क्योंकि ध्यान तो तप है और तप रूप पर्याय चारित्र गुण की है परन्तु ज्ञान गुण की नहीं है। ऐसी श्रद्धा करना चाहिये।

शुक्लध्यान के चार भेद बतलाए हैं। (१) पृथक्त्ववितर्क (२) एकत्ववितर्क (३) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति (४) व्युपरत क्रिया निवृत्ति।

पृथक्त्ववितर्क यथार्थ में शुक्लध्यान नहीं है वह तो शुक्लध्यान का मल है शुक्लध्यान में दोष है। विकल्प को शुक्लध्यान नहीं कहा जाता है वह तो पुण्य भाव है परन्तु यह पुण्य भाव में शुक्लध्यान का आरोप कर व्यवहार से शुक्लध्यान कहा जाता है। यथार्थ में शुक्ल-

ध्यान जो चारित्र गुण की शुद्ध पर्याय है वह तो बारहवें गुणस्थान के पहले समय में शुद्ध हो जाती है वहाँ ही चारित्र की अर्थात् शुक्लध्यान की पूर्त्ति हो जाती है, परन्तु बाकी के तीन शुक्लध्यान तो पर गुणों की शुद्धता की अपेक्षा से कहे जाते हैं। दूसरे शुक्लध्यान में ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्मों का नाश की अपेक्षा से कहा जाता है। तीसरा शुक्लध्यान योग के नाश के कारण से कहा जाता है तथा चौथा शुक्लध्यान कार्माण शरीर के नाश के कारण से कहा जाता है, यह तो चारित्र गुण में उपचार कर कहा जाता है, जैसे चारित्र तो जो है सो ही है जिसमें कुछ वृद्धि होती ही नहीं है। परन्तु केवल ज्ञान की प्राप्ति की अपेक्षा से उसी चारित्र को अवगाढ़ चारित्र कहा जाता है, और योग के अभाव में परमावगाढ़ चारित्र कहा जाता है। यह तो सब कथन पर गुणों का आरोप कर कहा जाता है यथार्थ में तो मोहनीय कर्म के क्षय में ही चारित्र गुण की शुद्धता हो जाती है जिसको यथाख्यात चारित्र कहा जाता है बाकी के अवगाढ़ परमावगाढ़ आदि पर गुणों की शुद्धता की अपेक्षा से कहा जाता है।

तत्वार्थ सूत्र में चतुर्थाध्याय में लिखा है कि "आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्या" भवनत्रिक देवों में पीत तक चार

लेश्या होती है। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में पर्याप्त अवस्था में तो पीत ही लेश्या रहती है, परन्तु अपर्याप्त अवस्था में इन्हें कृष्ण नील और कापोत लेश्या रहती है। क्योंकि कर्म भूमियाँ मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच मरण कर भवनत्रिक में उत्पन्न होते हैं। तब उसी की पूर्व लेश्यायें अपर्याप्तक अवस्था तक साथ रहती हैं परन्तु पर्याप्त अवस्था में तो नियम से पीत लेश्या ही रहती है।

शंका—देवों में शुभ लेश्या है तो भी वह मरण कर निगोद एकेन्द्रिय पर्याय में जा सकते हैं और नारकियों में तीनों अशुभ लेश्या हैं तो भी मरण कर नियम से संज्ञी पंचेन्द्रिय होते हैं इसका क्या कारण है?

समाधान—देवों में शुभ लेश्या होते हुए भी देवों में देवगति के भोग भोगने का भाव है, लालसा है जिस कारण से वह मरण कर एकेन्द्रियादि पर्याय में मरण कर जाता है, परन्तु नारकियों का नरक स्थान में भोग भोगने का भाव नहीं किन्तु नारक क्षेत्र की अति पीड़ा के कारण अर्थात् क्षेत्र जन्य महान् दुःख के कारण नरक क्षेत्र से बचने के लिये तीव्र अशुभ लेश्या है, जिस कारण से वह मरण कर नियम से संज्ञी पंचेन्द्रिय ही बनता है। जैसे मकान में आग लगने से मनुष्य प्रथम अपनी जान बचाने

को चाहता है परन्तु भोग की सामग्री बचाने को नहीं चाहता। इसी प्रकार नरक भूमि जन्य दुःख से बचने के लिये नारकी जीवों का अशुभ लेश्या रूप परिणाम होते हुए नरक में भोग भोगने का भाव नहीं होने से वह मरण कर नियम से संज्ञी पंचेन्द्रिय बनता है।

शंका—लेश्या किस को कहते हैं ?

समाधान—लेश्या में प्रधानपना प्रवृत्ति का है कषाय का प्रधानपना नहीं है। लेश्या क्रिया गुण की गमन रूप पर्याय का नाम है। छः प्रकार की लेश्या कषाय के कारण से कही जाती है यथार्थ में लेश्या एक प्रकार की ही होती है। कषाय में प्रधानपना अभिलाषा है, अर्थात् मोहनीय कर्म का उदय है और हिंसा में प्रधानपना प्रमाद का है।

शास्त्रों में जीव का उर्ध्वगमन स्वभाव का है। यथार्थ में गमन करना आत्मा का स्वभाव भाव नहीं है परन्तु विकारी भाव है। जब तक आत्मा में कर्मों का सम्बन्ध है तब तक आत्मा में गमन करने की शक्ति है परन्तु कर्म के अभाव में आत्मा क्रियावान नहीं रहता है परन्तु निष्क्रिय रहता है जो आत्मा की स्वभाविक अवस्था है।

शंका—तब जीव का उर्ध्वगमन स्वभाव क्यों कहा ?

समाधान—गमन करना जीवों का स्वभाव नहीं है

परन्तु विभाव भाव है। जिन जीवों को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का स्वरूप का ज्ञान नहीं है ऐसे वेदान्तमतावलम्बी ने प्रश्न किया कि जब आत्मा सर्व कर्मों से मुक्त होगया तब अधोलोक की ओर गमन न करके उर्ध्वलोक की ओर गमन क्यों किया ? ऐसे जीवों के समझाने के लिये उपचार से कह दिया कि आत्मा का स्वभाव उर्ध्वगमन है। ऐसा कहकर समझाने के लिये उपचार से उदाहरण के लिये तत्वार्थ सूत्र में दशवें अध्याय में सूत्र भी बना दिया कि "आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालांबुबदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च"। यथार्थ में उर्ध्वगमन स्वभाव नहीं है परन्तु उर्ध्वलोक में स्थिर हो जाना स्वभाव है।

उर्ध्वगमन शुद्धात्मा का स्वभाव नहीं है। यह तो समझाने के लिये उपचार मात्र से कहा गया है। जैसे जल पुग्दल की पर्याय है तथा अग्नि भी पुग्दलकी पर्याय है। यह दोनों में क्रियावती शक्ति है और वह क्रियावती शक्ति दोनों में विकारी है तो भी समझाने के लिये उपचार से जल और अग्नि में द्रव्य का उपचार कर कह दिया कि—

को शिखवत है नीर को नीचेको ढल जाय।
अग्नि शिखा ऊँची चले, यही अनादि स्वभाव ॥

विचारिए दोनों में क्रियावती शक्ति विपरीत परिणमन कर रही है, तो भी यथार्थ में विचारा जावे तो दोनों में क्रियावती शक्ति विकारी परिणमन कर रही है, किसे स्वभाव शक्ति कहोगे ? इसी प्रकार आत्मा का उर्ध्वगमन स्वभाव नहीं है, परन्तु उदाहरण के लिये उपचार से कहा है। गमन करना ही आत्मा का विकारी परिणमन है। तब प्रश्न यह रहता है कि मुक्त आत्मा ने उर्ध्वगमन कैसे किया ? वहां तो कर्मों का अभाव हो गया है ? तब विकारी परिणमन भी कह सकते नहीं है ? तब यथार्थ कहाँ है ?

समाधान—जिसको आप गमन देखते हो वह तो संसार की व्यय पर्याय है, और उत्पाद पर्याय सिद्ध पर्याय है। जैसे एक पुद्गल परमाणु सप्तम नरक से ऋजुगति से तीव्र गति से गमन करे तो चौदह राजू एक समय में लोक के अग्रभाग में जाता है। वहाँ विचारिये कि उस परमाणु की व्यय पर्याय कहाँ तक मानी जावेगी ? और उत्पाद पर्याय कहां मानी जावेगी ? लोक के अग्र भाग में उत्पन्न होना वही तो उत्पाद पर्याय है और बाकी की व्यय पर्याय है, जिसमें सप्तम नरक से प्रथम नरक तक का क्षेत्र, प्रथम नरक से प्रथम स्वर्ग का क्षेत्र, प्रथम स्वर्ग से सोलहवें स्वर्ग का क्षेत्र, सोलहवें स्वर्ग से सर्वार्थ सिद्धि तक का क्षेत्र, तथा सर्वार्थ सिद्धि से लोक के अग्र-भाग के

क्षेत्र सभी व्यय पर्याय में ही हैं यह क्षेत्र का भेद पड़ेगा तो एक समय नहीं रहेगा।

जैसे एक आत्मा ग्याहरवें गुणस्थान से गिर कर सीधा एक समय में चतुर्थ गुणस्थान में आता है, वहां ग्यारहवें गुणस्थान की व्यय पर्याय कहां तक मानी जावेगी और उत्पाद पर्याय कहां तक मानी जावेगी।

इस पर विचार करने से आप से आप मालुम हो जावेगा कि चौदहवें गुणस्थान का त्याग से सिद्ध पद में न पहुँचे तब तक की व्यय पर्याय है और सिद्ध पद की प्राप्ति अर्थात् लोक के अग्रभाग में स्थिर होना उत्पाद पर्याय है। इससे सिद्ध हुआ कि उर्ध्वगमन आत्मा का स्वभाव भाव नहीं है परन्तु गमन करना आत्मा का विकारी भाव है। उर्ध्व लोक में स्थिर होना स्वभाव है।

आत्मा असंख्यात प्रदेशी है। आत्मा का प्रदेश चलाचल है। नाभी के पास में जो अष्ठ रुचक प्रदेश है अर्थात् असंख्यात प्रदेश के मध्य में जो आठ प्रदेश है जिसको रुचक प्रदेश कहा जाता है वह अचल है, अर्थात् घूमता नहीं है, यह कथन सुनकर अमुक जीव का ऐसा आशय है कि यह अष्ट प्रदेश शुद्ध है, और बाकी के प्रदेश अशुद्ध हैं, ऐसा कहना उसका गलत है, उसको आत्म ज्ञान नहीं है। क्योंकि आत्मा अखण्ड है उसके

असंख्यात टुकड़े नहीं हैं । आत्मा को जो असंख्यात प्रदेशी कहा जाता है वह तो पर की अपेक्षा से है। आत्मा को एक शुद्ध पुद्गल परमाणु से यदि मापा जावे तो आत्मा असंख्यात पुद्गल परमाणु जितना लम्बा है । माप की अपेक्षा से आत्मा असंख्यात प्रदेशी है, तो भी आत्मा तो अखण्ड द्रव्य है । अखण्ड आत्मा में अमुक प्रदेश शुद्ध और अमुक प्रदेश अशुद्ध कहना उचित नहीं है, परन्तु गलत बात है। आत्मा का टुकड़ा होता तब तो यह कहना उचित हो सकता था, परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है। आत्मा के योग नाम के गुण की अष्ट रुचक प्रदेश की अपेक्षा शुद्ध और बाकी के प्रदेशों की अशुद्ध अवस्था एक साथ मानना यह उचित नहीं है। एक समय में एक ही अवस्था रहेगी। एक समय में दो अवस्था मानने वाले को द्रव्य का ज्ञान नहीं है वह अप्रतिबुद्ध अज्ञानी है। तेरहवें गुणस्थान के अन्त तक योग नाम के गुण की कम्पन रूप विकारी अवस्था है और चौदहवें गुणस्थान के पहले समय में योग नाम के गुण की शुद्ध अवस्था अकंप रूप होती है। यही परमार्थ सत्य है। जब तक शरीर का संयोग है तब तक योग गुण विकारी ही है।

पंचाध्याय उत्तरार्द्ध की गाथा २७ में लिखा है कि—

नासंभवमिदं यस्मादर्थाः परिणामिनोऽनिशं।
तत्र केचित् कदाचिद्वा प्रदेशचलनात्मका॥

अर्थ—क्रिया तथा भाव का जो कथन किया है वह असिद्ध नहीं है, क्योंकि सब पदार्थ प्रति समय परिणमन करते रहते हैं उसी परिणमन में कभी २ जीव व पुद्गल द्रव्य हलन चलन करते हैं।

इसके अभिप्राय में बहुत महाशय ऐसा अभिप्राय रखते हैं कि संसार अवस्था में आत्मा क्रियावान और निष्क्रियत्व होता है एवं अपने बनाये हुये शास्त्रों में भी लिख देता है वह उसकी महान गम्भीर भूल हैं। वह भूल होने का कारण उसको पदार्थ का ज्ञान नहीं है, वह अज्ञानी है। निष्क्रिय हुये बाद क्रियावान होने का क्या कारण हैं? संसार अवस्था में आत्मा नियम से क्रियावान है अर्थात् जब तक कर्म का संयोग है तब तक आत्मा नियम से क्रियावान है और कर्म का अत्यन्त अभाव होने से वह निष्क्रियत्व ही होता है। निष्क्रियत्व होने के बाद कर्म के अभाव के कारण वह क्रियावान कभी भी नहीं होता है।

अमुक जीव की ऐसी मान्यता है कि—आत्मा में नियम से क्रमबद्ध ही पर्याय होती हैं, अर्थात् जीव में लोभ की पर्याय हुये बाद ही मान की ही होने वाली ही

है, मान के बाद रति की ही होने वाली है। ऐसी मान्यता वाले जीवों को एकान्त मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। उन को पदार्थ का ज्ञान नहीं है। अबुद्धि पूर्वक अवस्था तो समय समय में होती ही है और वह पर्याय की साथ में कभी कभी बुद्धि पूर्वक पर्याय होती है वह तो असंख्यात समय में होती है। बुद्धि पूर्वक पर्याय होवे या न होवे तो भी अबुद्धि पर्याय तो होती ही रहती है। अबुद्धि पूर्वक पर्याय जो होती है वह क्रमबद्ध होती है और बुद्धि पूर्वक जो पर्याय होती है अक्रम होती है। अर्थात् उदय की अपेक्षा पर्याय क्रमबद्ध है और उदीरणा की अपेक्षा से पर्याय अक्रम है। कथंचित् क्रमबद्ध पर्याय है कथंचित् अक्रम पर्याय होती है। यही मानना एकान्त है। वह जीव मिथ्यादृष्टि है।

शंका—आत्मा में क्रमबद्ध ही पर्याय नहीं होती है यह न्याय से सिद्ध हो सकती है?

समाधान—आत्मा में दो प्रकार का भाव होता है (१) अबुद्धि पूर्वक (२) बुद्धिपूर्वक। अबुद्धि पूर्वक भाव तो समय-समय में होता ही है और उस भाव के अनुकूल उस जीव को समय समय में बन्ध पड़ता ही है। अबुद्धि पूर्वक राग के वक्त बुद्धि पूर्वक राग हो या न हो इसका कोई नियम नहीं है, परन्तु बुद्धि पूर्वक राग के

वक्त अबुद्धि पूर्वक राग तो अपना कार्य समय समय में कर रहा है। बुद्धि पूर्वक राग एक समय में होता ही नहीं है परंतु नियम से असंख्यात समय में ही होता है। बुद्धि पूर्वक राग से समय समय में बन्ध नहीं पड़ता है परन्तु जो अबुद्धि पूर्वक राग से समय समय में बन्ध पड़ता है वही बन्ध में अपकर्षण, उत्कर्षण तथा संक्रमणादिक होता है। और ऐसा बुद्धि पूर्वक राग न होवे तो यह होता ही नहीं है; जिससे भी सिद्ध होता है कि अबुद्धि पूर्वक राग का नाम क्रमबद्ध पर्याय है और बुद्धि-पूर्वक राग का नाम अक्रम पर्याय है। जैसे:—

आयु का निषेक समय समय में खिर रहा है वह खिरना तो क्रम बद्ध है परन्तु अपघात करके आयु के निषेकों को एक साथ में खिरा देना वही अक्रम पर्याय है। अर्थात् बुद्धि पूर्वक जो जो उदीरणा होती है वह अक्रम पर्याय है और अबुद्धि पूर्वक उदय क्रम बद्ध पर्याय है।

जिस भाव से सविपाक निर्जरा होती है उस भाव का नाम क्रमबद्ध पर्याय है, और जिस भाव से अविपाक निर्जरा होती है उन भाव का नाम अक्रम पर्याय है।

शंका—इन विषय में आगम की शाख मिल सकती है?

समाधान—जो बात तर्क से सिद्ध होती है क्या वह प्रमाण नहीं है ? तर्क भी प्रमाण है। आगम भी वही कहता है। देखिये—

(१) देश कालज्ञस्यापि बालवृद्ध श्रान्तग्लानत्वानुरो धनोहारविहारयो। रल्प लेप भयेना प्रवर्तमान स्याति कर्कशा चरणी भूयाक्रमेण शरीरं पातयित्वा सुरलोकं प्राप्याद्वान्त समस्त संयमामृत भारस्य तपसोऽनपका शतयाशकय प्रतिकारो महान लेपो भवति।

अर्थ—देश कालज्ञ को भी यदि वह बाल-वृद्ध, श्रान्त-ग्लानत्व के अनुरोध से, जो आहार-विहार है, उससे होने वाले अल्प लेप के भय से उसमें प्रवृत्ति न करे तो, अति कर्कश आचरण रूप होकर अक्रम से शरीर पात करके देवलोक प्राप्त करके जिसने समस्त संयमामृत का समूह वमन कर डाला है उसे तप का अवकाश न रहने से, जिसका प्रतिकार अशक्य है ऐसा महान लेप होता है।

(२) यद ज्ञानी कर्म क्रम परिपाटया बालतपोवैचित्र्यो-पक्रमेण च पच्यमानमुपात्तराग- द्वेष तया सुख दुःखादि विकार भाव परिपतः पुनरारोपितसंतानं भव शतसहस्र कोटिभिः कथंचन निस्तरति, तदेव ज्ञानी स्यात् कारकेत्त नागम ज्ञानतत्वार्थ श्रद्धान संयतत्व यौग पद्यातिशय

प्रसादा सादित शुद्ध ज्ञानमयात्मतत्त्वानु भूति लक्षण ज्ञानित्व सद्भावात्का यवाङमनः कर्मोपरम प्रवृत्त त्रिगुप्त-त्पान् प्रचण्डोपक्रम पच्यमान मपहस्ति त रागद्वेष तया दूर निरस्त समस्त सुख दुःखादिविकारः पुनरनारोपित संतान मुच्छ्वास मात्रेणैव लील येंव पातयति ।

अर्थ—जो कर्म अज्ञानी को क्रम परिपाटी से (सविपाकनिर्जरा) तथा अनेक प्रकार के बालतपादिरूप उद्यमसे अर्थात् अक्रम से (अविपाकनिर्जरा) पकते हुए, रागद्वेष को ग्रहण किया होने से सुख दुःखादि विकार भावरूप परिणमित होने से पुनः संतान को आरोपित करता जाय इस प्रकार लक्षकोटि भवों में, ज्यों ज्यों करके (महाकष्ट से) अज्ञानी पार कर जाता है, वही कर्म ज्ञानी को स्यात्कार केतन आगम ज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान और संयततत्व को युगपत्ता के अतिशय प्रसाद से प्राप्त शुद्ध आत्मतत्व की अनुभूति जिसका लक्षण है ऐसे ज्ञानीपन के सद्भाव के कारण काय-वचन-मन के कर्मों के उपरम से त्रिगुप्तिता प्रवर्त्तमान होने से प्रचण्ड उद्यम से पकता हुआ (अर्थात अक्रम से) रागद्वेष के छोड़ने से समस्त सुख दुःखादि विकार अत्यन्त निरस्त हुआ होने से पुनः संतान को आरोपित न करता जाय इस

प्रकार उछ्वासमात्र में ही, लीलामात्र में ही ज्ञानी नष्ट कर देता है ।

इससे सिद्ध हुआ कि मात्र क्रमबद्ध ही पर्याय नहीं होती परन्तु कथंचित क्रमबद्ध कथंचित अक्रम पर्याय भी होती है ।

कर्म के साथ में आत्मा का संयोग संबंध है। संयोग सम्बन्ध का अर्थ एक क्षेत्रावगाही रहना ऐसा प्रायः करके बहुत जीव करते हैं, परन्तु ऐसा अर्थ करने में गलती रह जाती है । एक क्षेत्रावगाही तो सब द्रव्य रहते हैं । जिस आकाश के क्षेत्र में जीव द्रव्य रहता है उसी आकाश के क्षेत्र में और जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य एवं काल द्रव्य भी रहते हैं तो भी आत्मा का उसके साथ में संयोग सम्बन्ध नहीं है । एक क्षेत्र में रहते हुए उसके साथ विशिष्टतर परस्पर अवगाहना सम्बन्ध है उसी का नाम संयोग सम्बन्ध है । यही बात प्रवचनसार ग्रन्थ के ज्ञेयाधिकार में गाथा १७३ में कही है कि—

फासेहिं पुग्गलाणं वंधो, जीवस्स रागमादीहिं ।
अण्णोण्णमपगाहो पुग्गलजीवप्पो भणिदो ॥

अर्थ—स्पर्श गुण के कारण से पुद्गल में बन्ध

होता है, रागादिक के कारण से जीव में बन्ध होता है और अन्योन्य अवगाह वही पुद्गल जीवात्मा का उभय बन्ध कहा जाता है।

तत्वार्थ सूत्र के आठवें अध्याय के तीसरे सूत्र में "प्रकृति स्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः" कहा गया है वह तो पौग्दलिक द्रव्य कर्म की अपेक्षा से कहा गया है। आत्मा में इस प्रकार का बन्ध नहीं होता है।

समयसार ग्रन्थ के निर्जरा अधिकार में गाथा १-१९३ में लिखा है कि—

उवभोजमिंदियेहि दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जे कुणदि सम्मदिठ्ठी ते सव्वं णिज्जरणिमित्त ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव जो इन्द्रियकरि चेतन अचेतन जे द्रव्य तिनका उपभोग करे हैं तिनकूं भोगवे हैं सो सब ही निर्जरा के निमित्त हैं।

सम्यग्दृष्टि जो जो भोग करते हैं वह सब निर्जरा ही होती है ऐसा अर्थ बहुत से जीव करते हैं। परन्तु यथार्थ में यह गाथा भात्र निर्जरा की अपेक्षा से नहीं है वह तो द्रव्य निर्जरा की अपेक्षा से कही गई है। दूसरी गाथा नं० १९४ में कहा है कि—

दव्वे उवभुजंते णियमा जायदि सुहं च दुखं वा।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि ॥

अर्थ—पर द्रव्य को भोगने से सुख अथवा दुःख नियम से होता है। उदय में आये हुये उस सुख दुःख को अनुभव करता है, भोगता है, आस्वादन करता है, फिर वह द्रव्य कर्म आस्वाद देकर झड़ जाता है। निर्जरा होने के बाद फिर वह द्रव्य कर्म नहीं आता अर्थात् द्रव्य कर्म की निर्जरा हो गई।

यहां विचारना चाहिये कि जब आत्मा में सुख दुख का अनुभव हुआ तब निर्जरा कहां हुई, यह तो कर्म फल चेतना रूप आत्मा का भाव है, जब निर्जरा का भाव तो ज्ञान चेतना रूप है।

सम्यग्दृष्टि का भोग तो नियम से पाप का ही भाव है। यदि भोग करते निर्जरा हो जावे तो भोगने का भाव को कर्म फल चेतना क्यों कही? भोगने का भाव तो नियम से पाप का ही भाव है। परन्तु बहुत जगह पर सम्यग्दर्शन की महिमा दिखाने के लिये अपेक्षा से कहा जाता है कि सम्यग्दृष्टि का भोगने का भाव होते हुए भी उसको मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी का बन्ध नहीं पड़ता। इसी अपेक्षा से निर्जरा का कारण कहा जाता है। क्योंकि द्रव्य लिंगी मुनि पीछी से जीव की दया पाल रहा है तो तो भी उसको मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी का बन्ध समय समय में पड़ रहा है। इसी अपेक्षा से सम्यग्दर्शन की

महिमा दिखाने के लिये मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि का भोग निर्जरा का हेतु कहा है। परन्तु जब चारित्र की महिमा दिखानी है तब आचार्य श्री ने सम्यग्दृष्टि के उपवास को अव्रत भाव की अपेक्षा से हस्ति स्नान जैसा भी कहा है। जैसा कि मूलाचार ग्रन्थ के दसवें समय साराधिकार में गाथा ५२ में कहा है कि—

सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि। होदि हु हत्थि ण्हाणं चुदुच्छिद कम्मं तं तस्य॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि का तप उपकारक नहीं है तो सम्यग्दृष्टि का तप महोपकारक है, ऐसा भी नहीं समझना चाहिये। सम्यग्दृष्टि का तप भी हस्ति स्नान जैसा है एवं मिस्त्री का हथियार में जो छेद पाड़ने वाली सायड़ी है उसकी रस्सी के समान है अर्थात् हाथी स्नान करके और विशेष धूलि डालने से वह धूलि के कारण विशेष चिपक जाती है एवं सायड़ी की रस्सी का एक हिस्सा जब छोटा होता है तब दूसरा हिस्सा लंबा हो जाता है इस न्याय से अव्रत सम्यग्दृष्टि के तप से निर्जरा जितनी नहीं होती है इससे विशेष बन्ध अव्रत भाव से होता है।

यह तो कथन करने की शैली है। जहां मात्र सम्यग्दर्शन की महिमा दिखाना है। वहां तो सम्यग्दृष्टि के भोग को निर्जरा का हेतु कह दिया और जहां चारित्र की महिमा दिखानी है वहाँ सम्यग्दृष्टि के तप को भी हाथी स्नान जैसा कह दिया। यह तो कथन करने की शैली है। तो भी कौन अपेक्षा से कथन किया है इसका यथार्थ ज्ञान करना चाहिये।

वीतराग सर्वज्ञ देव की वाणी बहुत जीव अनक्षरी मानते हैं परन्तु इसको मार्गणा स्थान का ज्ञान नहीं होने से वह ऐसा कह देते हैं एवं अपने बनाए शास्त्र में भी लिख देते हैं। वह उन्हीं के अज्ञान की महिमा है। सर्वज्ञ तो वीतराग है तो भी आगम में उसी का दो वचन भाग क्यों माना है और किस कारण से माना है। उस पर जीव विचार करता नहीं है (१) सत्य वचन (२) अनुभय वचन। सर्वज्ञ की वाणी कर्म जनित खरती है अर्थात् इच्छा पूर्वक वह वाणी नहीं खिरती है। पूर्व भवों में तीर्थंकर के जीवों ने ऐसी भावना भायी थी कि संसार के सभी जीवों का कल्याण कैसे हो? इसी भावना में सहज तीर्थंकर गौत्र का बन्ध पड़ गया था जिसके उदय में ही सर्वज्ञ की वाणी सहज खिर रही है। अनादि काल से जीव अज्ञान के कारण पौद्गलिक द्रव्य कर्मों से बन्धा

है और कर्मों के आधीन उसकी अवस्था हो रही है, ऐसा जीवों को मोक्ष मार्ग दिखाने के लिये जीव का अपना गुण पर्याय की साथ तादात्म्य सम्बन्ध किस प्रकार है उसी का ज्ञान कराने के लिये सत्य वाणी खिरती है। और जीव की पौद्गलिक द्रव्य कर्मों के संयोग से कैसी अवस्था हो रही है इसी का ज्ञान कराने के लिये अनुभव वाणी खिरती है। यह दोनों वाणी एक ही साथ में ही अक्षर रूप अनेकान्त तथा स्वाद्वाद मुद्रा सहित खिर रही है जो वाणी बन्ध के कारण नहीं है।

केवली की वाणी अबुद्धि पूर्वक सहज ही खिरती है, ऐसे ही छद्मस्थ जीवों की वाणी सहज खिर रही है ऐसा कहने वाले जीवों को मद चढ़ा हुआ है अज्ञान में पागल की तरह हो रहे हैं। वाणी पुद्गल की पर्याय है जीव उस वाणी का उपादान कर्ता नहीं है। इस अपेक्षा से यदि कहा जावे तो एकेन्द्रिय जीव को भी वचन योग मानने में क्या बाधा आती है। इस अभिप्राय से तो दो इन्द्रिय जीव से पंचेन्द्रिय जीव तक की सबकी वाणी सहज खिरती है ऐसा मानना चाहिये। वाणी तो पुद्गल जड़ की अवस्था है उसको तो ज्ञान नहीं है और आत्मा बोलता ही नहीं है। तब सत्य और हितमित वचन बोलना, सत्य महाव्रत अंगीकर करना, भाषा समिति का

पालन करना, वचन गुप्ति धारण करना आदि जो उपदेश हैं वह किस के लिये दिया गया है क्योंकि वाणी तो सहज खिरती है और आत्मा तो बोलता ही नहीं है। जड़ तो अन्धा है उसको उपदेश देने से क्या लाभ ? छद्मस्थ जीव ऐसा कहे कि जो वाणी आने वाली है वही आवेगी वह तो मात्र दंभ है, छल है। इच्छा पूर्वक राग से ही बोलना और कहना कि जो वाणी आने वाली है वही आवेगी वह तो मायाचारी है। बोलने में गलती हो जाती है तो माफी कौन मांगता है। आत्मा या जड़ ? जड़ में तो ज्ञान नहीं है और गलती का ज्ञान तो आत्मा को ही होता है। आत्मा तो बोलता ही नहीं है तब माफी मांगने का कारण क्या है ? छद्मस्थ जीवों की वाणी नियम से स्वाधीन अवस्था में बुद्धि पूर्वक ही खिरती है और इच्छा बिना वाणी खिरती होगी तो वह नियम से आत्मा की पराधीन सन्निपात्तादिक अवस्था में ही खिरती होगी। वाणी के साथ में आत्मा का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। आत्मा निमित्त है और वाणी नैमित्तिक पर्याय है। वाणी का आत्मा निमित्त कर्त्ता है और वाणी का उपादान कर्त्ता पुद्गल द्रव्य है। जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा में राग हो रहा है तो भी वह राग का अपने को कर्त्ता न मानकर पुद्गल द्रव्य को

कर्मों का कर्त्ता मानता है। इसी प्रकार जीव भी वाणी का निमित्त कर्त्ता है। जिस कारण से कहा जाता है कि पुरुष प्रमाण सो वचन प्रमाण। यदि वाणी छद्मस्थ जीवों के सहज खिरती है तो छद्मस्थ जीवों को बन्ध क्यों पड़ता है। छद्मस्थ की वाणी नियम से बन्ध के ही कारण हैं और केवली की बन्ध के कारण नहीं है, यही बात श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने भी नियमसार ग्रन्थ के शुद्धोपयोग अधिकार में गाथा १७३, १७४ में कहा है कि—

परिणामपुव्ववयणं जीवस्स य बंधकारणं होई।
परिणामरहियवयणं तह्मा णाणिस्स ण हि बंधो॥
ईहापुव्वं वयणं जीवस्स य बंधकारणं होई।
ईहा रहियं वयणं तह्मा णाणिस्स ण हि बंधो॥

अर्थ—मन के परिणमन पूर्वक जो वचन जीव के निकलते हैं वे बन्ध के कारण होते हैं, परन्तु जो वचन मन के परिणति के बिना निकलते हैं वे बन्ध के कारण नहीं है। इसलिये केवली परमात्मा को बन्ध नहीं है। जो वचन इच्छा पूर्वक जीव के होवेंगे वे वचन बन्ध के कारण होवेंगे, परन्तु जो वचन वांछा (इच्छा) रहित हैं

सो बन्ध के कारण नहीं है, इसलिये केवली परमात्मा को बन्ध नहीं है।

इससे सिद्ध हुआ कि छद्मस्थ के वाणी सहज नहीं खिरती है परन्तु राग सहित प्रायोगिक निकलती है।

शास्त्र में ऐसा देखने में आता है कि बाहर सामग्री लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम में मिलती है परन्तु परमार्थ से विचार करना यह कहना उसका गलत है क्योंकि कर्म प्रकृतियों का उसी को यथार्थ ज्ञान नहीं है। यथार्थ में विचारा जावे तो अन्तराय कर्म घाति कर्म है उसके सद्भाव में आत्मा के वीर्य गुण की घात होती है, और अन्तराय कर्म के क्षयोपशम में वीर्य शक्ति की प्राप्ति होती है यह अन्तराय कर्म का कार्य है। जैसे ज्ञानावरण कर्म ज्ञान गुण की घात करता है और ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम में ज्ञान की शक्ति प्राप्त होती है। अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से बाह्य सामग्री मिलती है यह कहना गलत है क्योंकि अन्तराय कर्म तो पाप प्रकृति है और पाप प्रकृति से बाह्य सामग्री का मिलना-मानना भूल है। बाह्य सामग्री का संयोग वियोग वेदनीय कर्म के उदय में ही होता है। कर्म के क्षयोपशम में सामग्री मिलती नहीं है परन्तु उदय में ही मिलती है। ऐसा समयसार ग्रन्थ के बंध अधिकार में गाथा २५४, २५५, २५६ में कहा है।

प्रवचनसार ग्रन्थ में चारित्राधिकार गाथा २६८, २६९, २७० में कहा है कि—

णिच्छिदसुत्तत्थपदो-समिद कसायो तवोधिगो चावि। लोगिगजण संसग्गं ण जहदि जदि संजदो ण हवदि॥ णिग्गथं पव्वइदां वट्टदि जदि ऐहिगेहि कम्मेहिं। सो लोगिगोदि भविदो संजम तप संयजुत्तावि॥ तम्हा क्षमं गुणादा समणो समणं गुणेहिं वा अहियं। अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं॥

अर्थ—सूत्र के पदों का और अर्थ का जिसने निश्चय किया है, कषाय को जिसने उपशम किया है, जो अधिक तप वाला है ऐसा जीव भी यदि लौकिक जनों के संसर्ग को छोड़ता नहीं है तो वह संयत मुनि नहीं है।

जो जीव निग्रन्थ दीक्षा लेने से संयम व तप संयुक्त होय तो भी यदि वह ऐहिक कार्यों सहित वर्तता होय तो उसको लौकिक कहा है।

आग के सम्बन्ध से जल की तरह मुनि भी लौकिक की कुसंगति से असंयमी हो जाता है। इससे ऐसी कुसंगति को त्याग कर उत्तम मुनि जो दुःख से मुक्त होना

चाहता है तो गुणों में अपने समान अथवा अपने से गुणों में अधिक श्रमण की इन दोनों की संगति में निवास करना चाहिये।

परन्तु वर्तमान में तो इससे बिलकुल विपरीत बात देखने में आ रही है। विशेषकर ब्रह्मचारी का ही संग देखने में आ रहा है। ब्रह्मचारी तो मुनि के अन्ध आदमी के लकड़ी के समान है। जिस कारण से यथार्थ उपदेश का तो लोप ही हो गया और प्रधान उपदेश यज्ञोपवीत पहराने का और शूद्र के हाथ का भरा हुआ जल का ही त्याग किया जाता है। इस बात की इतनी प्रबलता है कि वह तो नवधा भक्ति के एवज में दशवीं भक्ति बोली जाती है कि मैंने शूद्र जल का त्याग किया है और यज्ञोपवीत धारण की है।

यज्ञोपवीत किस को पहरने का अधिकार है वह तो भूल ही गया है। बाजार की चाट चाटने वाला, जंगेड़ी भंगेड़ी नशाबाज आदि आज तो यज्ञोपवीत पहरने लगा है। मोची पहने, धोबी पहने, दरजी पहने, नाई पहने, कहाँ तक कहा जावे मेहतर भी पहरने लगा है। यज्ञोपवीत की महिमा कहां रही ? यज्ञोपवीत उसे ही पहरने का अधिकार है जिसका खान पान शुद्ध हो, आगम के अनुकूल ही जो अभक्ष का त्यागी हो, जो रात्रि में चार प्रकार के आहार

का त्याग करने वाला हो, जो सप्त व्यसन का संपूर्ण रीति से त्याग करने वाला हो उसे ही यज्ञोपवीत पहनने का अधिकार है। उस पर तो लक्ष है नहीं और जबर-दस्ती से पहरने का आदेश दिया जाता है।

शूद्र के हाथ के जल का तो त्याग कराया जाता है साथ साथ यह आज्ञा भी दी जाती है कि टोंटी (नल) का जल पी लेना, बाजार की चाट खाना, रात्रि में कला-कन्द आदि खाना, बाजार का अमर्यादित दूध दही जो मात्र त्रस के पिण्ड रूप है उसको खा लेने में हर्जा नहीं है। यह कहाँ का त्याग है? त्याग ऐसा कराइए कि जिससे धर्म की उन्नति के साथ धर्म का बिगड़ा हुआ मार्ग सुधरे? परन्तु कहना किसको? सब त्यागी गण जो अहमिन्द्र ही बने हैं। कोई की सर्वोपरि सत्ता आज्ञा तो रही हो नहीं। यही जैन धर्म का अधोगति का महान कारण है। त्याग कराइए परन्तु क्रमबद्ध त्याग कराइए। अक्रम त्याग कैसे ठहर सकता है? काल पाकर नियम से त्याग के प्रति अनादर भाव ही आयेगा और त्याग छोड़ देने का ही प्रसंग आता है। भगवान महावीर की जबरदस्ती से त्याग कराने की आज्ञा नहीं है। प्रथम ज्ञान कराइये बाद में त्याग तो सहज ज्ञान आने से आ जावेगा। यही धर्म की बढ़वारी का मात्र रास्ता है।

वर्तमान काल में विशेष कर गृहस्थ अमर्यादित आहार लेते हैं। दिगम्बर जैन मुनियों को किस प्रकार से और किस विधि से आहार दान देना चाहिये इस का भी यथार्थ ज्ञान नहीं है। इसका ज्ञान कराने की महिमा न रही न उसका खुद को ज्ञान है और शूद्र के जल त्याग की ओर लक्ष जाता है। यह तो धर्म डुबाने का तरीका है। अज्ञान के कारण आहार दान देने में जो लाभ होना चाहिये, इससे वह वंचित रह जाता है। मनः शुद्धि, वचन शुद्धि और कायशुद्धि कब और किस अवस्था में और किसे बोलना चाहिये इसका भी दातार को ज्ञान नहीं है। जिस दातार ने मुनि महाराज के लिये चौका लगाया है, उस दातार को यह तीन प्रकार की शुद्धि बोलने में महान दोष लगता है। मुनि का विकल्प कर आहार बनवाना इसमें उद्गम नाम का दोष दातार को लगता है। और मुनि महाराज जानते ही हैं कि यह चौका सिर्फ मेरे ही लिये लगाया गया है इसी कारण से मुनि महाराज को उद्दिष्टादि दोष लगता है। जो दातार नियम से रोजाना शुद्ध आहार लेता है वही दातार यथार्थ में मुनि महाराज को दान देने के लिये अधिकारी है। क्योंकि उस दातार ने जो आहार बनवाया है वह मुनि महाराज के लिये नहीं बनवाया है परन्तु अपने निज

के लिये बनवाया है। जो आहार बनाने में मन से भी विकल्प नहीं किया है कि यह चौका मुनि महाराज के लिए लगाया है, वचन से भी ऐसा नहीं बोला है कि यह आहार मुनि महाराज के लिये ही बनाया है और काय से भी ऐसी चेष्टा नहीं हुई है कि मुनि महाराज के लिये आहार बना रहा हूँ। ऐसा दातार ही मनः शुद्धि, वचन शुद्धि, और काय शुद्धि बोल सकता है। परन्तु दातार तो खासतौर से मुनि महाराजों के लिए ही आहार बनाता है और गुरु के सामने झूंठ मन शुद्धि, वचन शुद्धि और काय शुद्धि बोले, इसमें कितना दोष लगता है, सो विचारना चाहिये ? जो जीव गुरु के सामने झूंठ बोलता है वह कितना अज्ञानी है। ऐसा अज्ञान छुड़ाने का उपदेश का तो लोप हो गया और मात्र उपदेश रह गया कि शूद्र जल का त्याग बोलो तब मैं आहार लूंगा, नहीं तो आहार नहीं लूंगा। शूद्र के हाथ का जल पीने वाले के हाथ से आहार नहीं लेना वह तो अपना हठ है कदाग्रह है। जहां हठ हैं कदाग्रह है वहाँ तो धर्म की गन्ध भी नहीं है। अव्रत अवस्था का जिसको ज्ञान नहीं है, उस को मुनि अवस्था कैसी होती है उसका ज्ञान कैसे हो सकता है। यह तो नाम मात्र का मुनि है जिसको जैन शास्त्रों में द्रव्यलिंगी भी नहीं कहा है, यह तो मात्र मुनि वेष है।

शूद्र जल के त्याग की जरूरत नहीं है परन्तु मुनि महाराज जब से अपने ग्राम नगर में पधारे तब से अपनी शक्ति के अनुकूल ऐसी प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि अमुक दिन, अमुक पक्ष, अमुक मास तक मैं शुद्ध आहार लूंगा। यही उत्तम रीति है जिससे शूद्र जल का त्याग तो सहज हो जाता है। इस प्रकार का उपदेश देने से दातार मुनि महाराज के सामने झूंठ बोलने के महान् पाप से बच जाता है, और दातार मुनि महाराज को आहार दान देने में यथार्थ लाभ उठा सकता है तथा मुनि महाराज भी स्वयं उद्दिष्टादि दोषों से बच जाते हैं एवं दातार भी उद्गमादि दोषों से बच जाता है।

शंका—चार प्रकार के दान में से कौनसा दान उत्तम है?

समाधान—दान तो चारों ही प्रकार के उत्तम हैं। फिर भी विचारने से मालूम होता है कि आहार दान देने में पात्र जीव एक दिन के दुःख से बच सकता है दूसरे दिन वही दुःख सताता है। औषधदान देने में पात्र जीव अमुक दिन मास या वर्ष के दुःख से बच सकता है। अभयदान देने से पात्र जीव आयुपर्यंत दुःख से बच सकता है। परन्तु शास्त्र दान ऐसा दान है कि जिसके

निमित्त से जीव अनन्त संसार काट कर मुक्त पा सकता है। इससे उत्तमोत्तम दान शास्त्र दान है।

जीव ने अपने जीवन में अनेक दफे आहार दान दिया होगा परन्तु कभी जीव को अभय दान एवं शास्त्र दान देने का भाव क्यों नहीं होता है ? इस पर विचार करने से मालूम होता है कि इस प्रकार के उपदेश का अभाव है। दातार ने अपने जीवन में कभी भी ऐसा प्रश्न पात्र जीव से नहीं किया होगा कि आपको कोई शास्त्र की जरूरत है, मेरा विचार शास्त्र दान देने का है। परन्तु पूछे कहां से ? इसकी महिमा कभी जानी ही नहीं है। जिस को खुद ज्ञान की महिमा ज्ञात नहीं है वह दूसरे जीवों को ज्ञान बढ़ाने की बात कैसे पूछेगा ? जैसा आहार तैसी डकार। दातार को स्वयं ज्ञान अर्जन करना चाहिये और ज्ञान दान अपनी शक्ति अनुसार करना चाहिये। ज्ञान दान जैसा दूसरा दान नहीं है। तीर्थंकर देव के समवशरण में भी तो ज्ञान की गंगा बहती है और किस बात की महिमा है।

बहुत जीव ऐसे देखने में आते हैं कि जब पात्र जीवों को आहार लेते वक्त अंतराय आ जाता है तब दातार ऐसा कहते हैं कि हमारे दान में अंतराय कर्म का उदय आया जिससे पात्र को अंतराय आ गया। यह क्यों कहते

है ? वे जीव अज्ञानी हैं उन्हें शास्त्र का ज्ञान नहीं है। अंतराय कर्म का उदय आपको आवे और उसका फल पात्र जीवों को भोगना पड़े यह मान्यता ही अज्ञान की है। खुद पात्र जीव को पाप कर्म का उदय है तब ही अंतराय आया है। पात्र जीव को ही पाप का उदय है नहीं तो अंतराय क्यों आता ? दातार के तो पुण्य का उदय नहीं होता तो पात्र जीव अपने चौके में कैसे आता पुण्य का उदय है इतना ही नहीं, परन्तु दातार के पुण्य बन्ध भी पड़ रहा है, क्योंकि वह तो आहार दान दे रहा है, परन्तु पात्र जीव को अन्तराय आता देख अपने को दुःख होता है वह भी पुण्य का ही बन्ध है। पात्र का जो आहार लेने का भाव था वह तो पाप का ही भाव था, परन्तु अन्तराय आने से किसी प्रकार के ऊहापोह के बिना शान्ति से अन्तराय का पालन करने का भाव पुण्य का भाव है, क्योंकि आहार लेने रूप भाव तो पाप का भाव था परन्तु आहार का त्याग रूप जो भाव हुआ वह पुण्य भाव है।

दातार के घर में मध्यम और जघन्य पात्र आहार लेने को आया है तो भी दातार की ऐसी भावना रहती है कि यदि मेरा आहार मुनि महाराज को दिया जावे तो मुझे विशेष पुण्य बन्ध होगा। यही भावना लेकर दातार

अपने घर पर आए हुए मध्यमादि पात्र को बैठाकर तुरन्त अपने चौके की सामग्री लेकर मुनि महाराज को आहार दान देने को दौड़ते हैं। यह उचित मार्ग नहीं है। इस अभिप्राय में मिथ्यात्व का सेवन आता है, क्योंकि आप का ऐसा अभिप्राय है कि मेरा आहार मुनि महाराज के पेट में जावे तो मुझको विशेष पुण्य बन्ध होगा, परन्तु पुण्य बन्ध का कारण आहार नहीं है, अपनी भक्ति रूप भाव है। वह पुण्य बन्ध का कारण है। इसका ज्ञान नहीं होने से मिथ्यात्व का ही सेवन हो रहा है। जिसके चौके में मुनि महाराज नहीं पधारे हैं और वह दातार भावना भा रहा है कि मुनि महाराज कब पधारें? तो क्या उसको पुण्य बन्ध नहीं होगा? अवश्य होगा। क्योंकि पुण्य बन्ध का कारण आहार नहीं है परन्तु भाव है। पात्र जीवों को आहार देते वक्त जैसा भाव होगा वैसा ही बन्ध पड़ेगा। बन्ध का कारण मन्द कषाय रूप आत्मा का परिणाम है, परन्तु आहार की सामग्री नहीं है। अपने चौके में जो मध्यम पात्र आया है उसका अनादर नहीं कर भक्ति से उसको आहार दान देना वही उत्तम रीति है।

शंका—तत्वार्थ सूत्र में सातवें अध्याय के सूत्र ३९ में लिखा है कि "विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः" ॥

अर्थात् उत्तम पात्र को दान देने से उत्कृष्ट पुण्य बन्ध पड़ेगा, मध्यम पात्र को दान देने से मध्यम पुण्य बन्ध पड़ेगा, और जघन्य पात्र को दान देने से जघन्य पुण्य बन्ध पड़ेगा--यह क्यों कहा ?

समाधान—सूत्र का परमार्थ अर्थ आपके समझने में नहीं आया। इस सूत्र के अर्थ में उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य पात्र का भेद लेने का नहीं है परन्तु पात्र कुपात्रादिक के भेद से पुण्य में भेद पड़ता है। यह सूत्र का परमार्थ अर्थ है।

शंका—पात्र कुपात्रादिक से कैसे पुण्य बन्ध में भेद पड़ता है और पात्र कुपात्रादिक का क्या स्वरूप है ?

समाधान—जिसको देव, गुरु और व्यवहार धर्म की श्रद्धा है वह सभी पात्र जीव हैं। जो क्षुधा तृषा जरा आदि अठारह दोषों रहित सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी को ही देव मानते हैं। नग्न दिगम्बर मुनि जो अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करने वाला बाईस परिषह को जीतने वाला और मनुष्य देव तिर्यंच द्वारा आए हुए उपसर्ग को शांत भाव से जीतता है उसको गुरू मानते हैं, और जो धर्म को दयामयी ही मानता है ऐसी जिन जीवों की श्रद्धा है वे सभी पात्र जीव हैं। ऐसे पात्र जीवों को दान देने

से उनको फल में सुभोग भूमि तथा सुदेवों के सुख के साथ परम्परा मोक्ष मिलती है यह पुण्य का फल है।

जिस जीव को देव की श्रद्धा में विपरीतता है अर्थात् देव सर्वज्ञ वीतराग को मानता है परन्तु वह देव को अठारह दोषों सहित मानता है। अर्थात् देव को क्षुधा तृषा रोग आदि होता है उसे देव के स्वरूप में विपरीतता है। जो गुरू निर्ग्रन्थ को मानता है परन्तु गुरु वस्त्र पात्रादि का परिग्रह रखता है अर्थात् परिग्रह धारी को गुरु मानता है। वहां गुरू के स्वरूप में विपरीतता है। जो दयामयी धर्म मानता है अर्थात् मांसादि खाने में पाप मानता है हिंसा, चोरी, झूंठ, मैथुन सेवन और परिग्रह में पाप मानता है परंतु ब्रह्मचर्य का पालन, रात्रि भोजन न करना, उपवासादि करने में धर्म मानता है ऐसी जिस जीव की श्रद्धा है उसको कुपात्र कहते हैं। ऐसे कुपात्रों में पात्र बुद्धि कर जो आहार दान देते हैं ऐसे जीवों को उसके फल में सुभोग भूमि तथा सुदेव का भोग मिलता है, परन्तु परम्परा मोक्ष नहीं मिलती है। यह पुण्य के फल में विपरीतता है।

जिन जीवों को देव की श्रद्धा में विपरीतता है अर्थात् देव शस्त्रादि आयुध रखता है, देव स्त्री का भोग करता है उसे देव के स्वरूप में विपरीतता है। जो गुरु को ऐसा

मानता है कि गुरु मृगचर्म रखता है, गुरु स्त्री आदि परिग्रह रखता है, गुरु संतान उत्पत्ति करता है, जो पंच धुनि तपता है यह मान्यता गुरु के स्वरूप में विपरीतता है। तथा जो धर्म के स्वरूप में भी विपरीतता मानता है कि देवों को बलिदान देने से धर्म होता है, यक्ष में नर पशु आदि का बलि देने में धर्म है, गंगास्नान करने में धर्म है, पति के वियोग में सती होना धर्म मानता है, पहाड़ से कूद कर मरने में धर्म मानता है—यह मान्यता धर्म के स्वरूप में विपरीतता है। ऐसी मान्यता वाले जीवों को अपात्र कहा जाता है। ऐसे अपात्र जीवों में पात्र जीवों की कल्पना कर दान देने से उसके फल में कुभोग भूमि तथा कुदेव की ऋद्धि मिलती है और सुभोग भूमि सुदेव तथा परंपरा मोक्ष का अभाव है। यह पुण्य के फल में विपरीतता है।

इसी प्रकार पात्र कुपात्र और अपात्र के स्वरूप तथा पुण्य के फल में विपरीतता है। कुपात्र और अपात्र जीवों को पात्र मानकर दान देने में मिथ्यात्व का सेवन होता है, परन्तु कुपात्र और अपात्र जीवों को करुणाभाव से दान देने का निषेध नहीं है। करुणाभाव तो प्राणी मात्र पर रखना चाहिये। कुपात्र को कुपात्र मान कर दान करुणा बुद्धि से देने का फल पुण्य बन्ध है।

शंका—आत्मा तो खाता ही नहीं है, ऐसा आगम में लिखा है तब यह दान आदि क्यों करना चाहिये।

समाधान—आत्मा खाता नहीं है वह किस अपेक्षा से लिखा है इसका आपको परमार्थ ज्ञान नहीं है। इस कारण ऐसे जीवों को निश्चयाभासी कहा गया है। आत्मा तादात्म्य सम्बन्ध से खाता नहीं है ऐसा आगम का कथन है। परन्तु संयोग सम्बन्ध से अर्थात् व्यवहार से आत्मा खाता ही है। यदि आत्मा खाता ही नहीं है तो मैं आहार करूँ मैं आहार दान लेऊँ ऐसा विकल्प भी आत्मा में उठना नहीं चाहिये। जैसे बंध्या के पुत्र नहीं होता है तो मैं बंध्या-पुत्र को मारूँ ऐसा विकल्प नहीं उठता है, परन्तु वीरजननी के पुत्र होता है इसी कारण वीर जननी के पुत्र को मारने का विकल्प उठता है। इसी प्रकार आत्मा व्यवहार से खाता है, बोलता है इसीलिये तो शुद्ध आहार खाने का आदेश दिया जाता है, मांस-मदिरा आदि का त्याग कराया जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि निश्चय से आत्मा खाता नहीं है, परन्तु व्यवहार से खाता है। इसी श्रद्धान ज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान है।

कर्म की दश अवस्था में निकांचित और निधत्त अवस्था भी शास्त्र में लिखी है जिसमें भी जीव समझने में बहुत ही गलती करता है। निकांचित व निधत्त बन्ध

किसको कहते हैं उसका भी यथार्थ ज्ञान नहीं है। यथार्थ में निकांचित तथा निधत्त का घातिया कर्मों में भेद नहीं है, परन्तु अघातिया कर्मों के भेद हैं। जिस काल में आयु का बन्ध पड़ता है उस समय में जो नाम कर्म में गति आदि का बन्ध पड़ता है तथा गौत्र कर्म में उसी समय जो बन्ध पड़ता है वही निकांचित तथा निधत्त बंध है। क्योंकि जो गति और गौत्र का बन्ध पड़ेगा उसी गति और गौत्र में जीव को जानना ही होगा। वह बन्ध बदल नहीं सकता है। आत्मा की शक्ति नहीं है कि वह उसको बदल सके। उसी का नाम निकांचित व निधत्त है।

मिथ्यात्व भाव असंख्यात लोक प्रमाण हैं, इन भावों को पिछाने बिना आत्मा सम्यग्ज्ञानी बन नहीं सकता है। इसलिये मिथ्यात्व भावों को पिछानने की शक्ति प्राप्त करना चाहिये। जैसे एक ग्राम में दो ब्रह्मचारी जी रहते हैं, जिनको उस ग्राम के मनुष्य सम्यग्दृष्टि मानते हैं एवं उनकी बहुत भक्ति करते हैं। एक दिन उस ग्राम में एक विशेष ज्ञानी मुनि महाराज पधारे। ठीक इस अवसर पर एक मुमुक्षु महिला रजस्वला हो गई। दूसरे दिन वह रजस्वला बाईजो ब्रह्मचारी महाराज के पास में गई और प्रार्थना की कि हे महाराज ! कल में रजस्वला

हो गई हूँ। मुनि महाराज दो दिन में विहार कर जावेंगे। मुनि महाराज के उपदेश से मैं बंचित रह जाती हूँ। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के काल में ही मैं रजस्वला हो गई एवं कल रथयात्रा का दिन भी है। अब मुझको रक्ताश्रव मालूम नहीं होता है। घर पर रहने से सारा दिन प्रमाद में ही जाता है। रक्ताश्रव होना आत्मा का धर्म है ही नहीं, वह पुद्‌गल का ही धर्म है। अतः यदि आप आज्ञा दो तो मैं कल स्नानकर रथयात्रा में सम्मिलित होऊँ और मुनि महाराज का उपदेशामृत का पान कर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के साथ आत्म-कल्याण करूँ। ऐसे शुभ अवसर बार २ मिलते नहीं हैं। इस प्रार्थना को सुनकर ब्रह्मचारी जी महाराज ने कहा कि बाईजी! आपका कहना बिलकुल ठीक है, घर पर रहने से दिन प्रमाद में ही जाता है, एवं रक्ताश्रव आत्मा का धर्म नहीं है वह तो नियम से पुद्‌गल का ही धर्म है। पुद्‌गल के धर्म का आत्मा में अत्यन्त अभाव है। इसलिये आप आनंद से स्नान कर रथयात्रा में एवं मुनि महाराज के सदुपदेश में जाकर अपना कल्याण करें। ऐसा सुअवसर हर समय मिलता नहीं है। आपको कोई पूछे तो हमारा नाम ले देना कि ब्रह्मचारी जी महाराज ने आज्ञा दी है। इस आज्ञा के मिलने से बाईजी बहुत प्रसन्न हुई और ब्रह्मचारी

जी को कोटिशः धन्यवाद दे अपने घर गई। फिर क्या था? दूसरे दिन स्नान कर उसने रथयात्रा में भाग लिया और पुण्योपार्जन किया और मुनि महाराज का सदुपदेश सुन कर बहुत ही आनन्द माना।

अब सोचिए कि ऐसा आदेश देने वाले ब्रह्मचारीजी सम्यग्दृष्टि हैं या मिथ्यादृष्टि?

प्रथम तो उसने आगम की आज्ञा न मानी। आगम से विपरीत आज्ञा दी। जिस कारण वह मिथ्यादृष्टि है। दूसरी बात—मुनि महाराज का उपदेश सुनने से ही मेरा कल्याण होगा ऐसा मानना मिथ्यात्व है। मेरा कल्याण मुझसे ही होगा, पर जीव मेरा कल्याण कर नहीं सकता है। ऐसी जिस जीव की धारणा नहीं है वह परावलम्बी मिथ्यादृष्टि है। घर में रहने से प्रमाद होता है और मुनि वाणी सुनने से ही कल्याण होगा, यह अभिप्राय मिथ्यात्व का ही है। घर में प्रमाद कौन करता है? प्रमाद करने वाला अपना ही आत्मा है, घर विचारा क्या करेगा? मुनि की वाणी सुनकर धारणा तो मेरा ही आत्मा करेगा? या मुनि करा देंगे? ऐसा जिसको ज्ञान नहीं है उस जीव की दृष्टि निरन्तर पर-द्रव्य पर ही रहती है अर्थात् पर से अपना कल्याण होना मानता है। वह मिथ्यादृष्टि ही

है। इससे भी सिद्ध हुआ कि दोनों ब्रह्मचारी महाराज मिथ्यादृष्टि ही हैं।

विनय तप भी है और विनय मिथ्यात्व भी है। पद के अनुकूल विनय करना तप है। परन्तु पद से विपरीत विनय करना विनय मिथ्यात्व है। किस पद में किस प्रकार का विनय करना चाहिए इसका ज्ञान अवश्य करना चाहिए। इस ज्ञान बिना जीव पद से विपरीत भक्ति या विनय करता है वह सब विनय मिथ्यात्व है। किस गुण में किस प्रकार की भक्ति होती है उसका भी ज्ञान चाहिए। इस ज्ञान के बिना गुण में विनय न होकर जीव मात्र राग में ही भक्ति या विनय करता है। वह भी विनय मिथ्यात्व है। अव्रती जीवों की उनके पद के अनुकूल विनय करना चाहिए परन्तु अव्रती का विनय गुरु जितना करें तो वह विनय मिथ्यात्व है। जैसे अव्रती को सद्गुरु देव कहना वह विनय मिथ्यात्व है। पंचम गुणस्थानवर्ती जीवों की छटवें गुण स्थानवर्ती मुनि महाराज जैसी भक्ति करना विनय मिथ्यात्व है।

शंका—भक्ति करना भक्त के अधीन है। भक्त की जैसी इच्छा हो वैसी भक्ति करे, में उस मिथ्यात्व कैसे आ जाता है?

समाधान—भक्ति का लक्ष्य गुण में अनुराग है।

गुण तो आपके ज्ञान में आया नहीं और आपने भक्ति करी। यह तो मात्र राग में राग की भक्ति है और उस भक्ति का नाम मिथ्यात्व है। अव्रती की आपने भक्ति कैसे करी? आप भी तो अव्रती हो। आपने अव्रती की भक्ति कैसे करी? जिसकी आपने भक्ति करी उसमें जितना गुण है इतना तो आप में भी गुण है? आपका और अव्रती सम्यग्दृष्टि का समान गुणस्थान है। आपने क्या सोचकर भक्ति करी? श्रावक के दो भेद हैं। १—व्रती, २—अव्रती। आपने व्रती श्रावक की मुनि महाराज जैसी कैसे भक्ति करी? जहाँ गुणस्थान का ज्ञान नहीं है वहाँ मिथ्यात्व ही है। इससे सिद्ध हुआ कि गुणस्थान के अनुकूल भक्ति करना वह विनय तप है परन्तु भक्ति करना वह भक्त के अधीन है यह कहना विनय मिथ्यात्व है।

छद्मस्थ जीव अल्प ज्ञानी है और अल्पज्ञानी को भूल हो जाना संभव है। ऐसे अल्पज्ञानी ने एक बात का प्रतिपादन कर दिया बाद में उसके ज्ञान में आया कि यह जो हमने प्रतिपादन किया था वह गलत था। ऐसा आत्मा स्वीकार करता है, परन्तु अपने मान कषाय के कारण वह गलती स्वीकार नहीं करता है वह तो मिथ्या-दृष्टि ही है। ऐसा जीव अपनी बात रखने के कारण आगम का अर्थ का अनर्थ करता है वह तो महान्

मिथ्यादृष्टि है। तीव्र मिथ्यात्व बिना ऐसा अभिप्राय नहीं होता है। सत्य का विरोध करने का जिस जीव का भाव है उसको और मेरी बात रह जावे ऐसे अभिप्राय वाले जीव को, इतना ही कह सकते हैं कि इसकी त्रस पर्याय पूर्ण हो रही है अन्यथा इस प्रकार का भाव कैसे हो सकता है।

इससे सिद्ध हुआ कि मिथ्यात्व के भाव का ज्ञान करना ही मोक्षमार्गी जीवों को बहुत जरूरी है। यह ज्ञान न होने के कारण जीव मिथ्यादृष्टि का मिथ्यादृष्टि ही रह जाता है।

यह सब बातें लक्ष में रखकर यह निर्णय हो सकता है कि जब तक अनुयोग का यथार्थ ज्ञान न हो अर्थात् कौन २ अनुयोग किस २ अपेक्षा से कथन करता है इसका ज्ञान न होने से जीव शास्त्र स्वाध्याय करते हुए अज्ञानी ही रह जाते हैं। इसलिये अनुयोग का ठीक २ ज्ञान करना बड़ा जरूरी है, अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

जिस प्रकार मोक्ष--मार्ग में अनुयोग का ज्ञान करना कार्यकारी है उसी प्रकार नय निक्षेप का ज्ञान करना कार्य-कारी है। नय का ज्ञान नहीं होने के कारण स्वाध्याय करते हुए भी मिथ्यादृष्टि ही रह जाता है। नय दो प्रकार

का है। १—निश्चय नय, २—व्यवहार नय। निश्चय नय भी दो प्रकार का है। गुण गुणी का भेद किए बिना एवं गुण पर्याय का भेद किए बिना द्रव्य का प्रतिपादन करना एवं द्रव्य को देखना यह निश्चय नय है। जैसे—आत्मा को ज्ञायक स्वभावी ज्ञानघन चैतन्य पिण्ड कहना अथवा देखना वह निश्चय नय है। दूसरा निश्चय नय इस को कहते हैं कि आत्मा का गुण तथा आत्मा की पर्याय आत्मा की कहना उसका नाम भी निश्चय नय है। जैसे—दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि आदि आत्मा के गुण हैं, मति श्रुत एवं केवलज्ञान पर्याय आत्मा की हैं, क्षमा संतोषादि पर्याय आत्मा की हैं एवं क्रोध, मान, माया, लोभ अवस्था आत्मा की हैं यह भी निश्चय नय है।

व्यवहार नय भी दो प्रकार का है। (१) तादात्म्य व्यवहार (२) संयोग व्यवहार।

अभेद वस्तु में भेद मानकर कथन करना या देखना वह व्यवहार है। क्योंकि यथार्थ में वस्तु-पदार्थ अभेद है तो भी कल्पना द्वारा उसमें भेद पाड़ना वह व्यवहार है। इस व्यवहार का नाम तादात्म्य व्यवहार है। जैसे आत्मा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र-वीर्य आदि गुण कहना यह व्यवहार से कहा जा सकता है। यथार्थ में वस्तु तो अभेद है।

तादात्म्य व्यवहार भी दो प्रकार का है। (१) सद्भूत व्यवहार (२) असद्भूत व्यवहार।

आत्मा में दर्शन ज्ञान चारित्र हैं या आत्मा में केवल ज्ञान केवल दर्शन अनंत सुख अनंतवीर्य क्षायक सम्यक्त्व वीतरागता आदि शुद्ध गुण पर्याय कहना वह सद्भूत व्यवहार से कहा जाता है।

आत्मा में मति श्रुत अवधि और मनपर्यय ज्ञान होता है। आत्मा में क्रोध मान, माया, लोभ आदि पर्याएँ होती हैं, यह असद्भूत व्यवहार से कह सकते हैं।

संयोगी व्यवहार भी दो प्रकार का है। (१) असद्भूत अनउपचरित व्यवहार (२) असद्भूत उपचरित व्यवहार।

आत्मा मनुष्य देव तिर्यंच नारकी शरीर में दश प्राणों से जीता है, आत्मा का औदारिक वैक्रियक शरीर होता है, यह असद्भूत अनउपचरित व्यवहार से कहा जाता है।

यह मेरी पत्नी है, यह मेरी लक्ष्मी है, मेरा घर है, यह मेरी मिल है, केवली भगवान लोकालोक को देखते हैं यह सब असद्भूत उपचरित कथन से कहा जाता है।

व्यवहार नय को जो अभूतार्थ असत्यार्थ कहा जाता है वह निश्चय नय की अपेक्षा से ही कहा जाता है

क्योंकि सब व्यवहार विकल्पात्मक हैं। और विकल्प हेय ही है परन्तु व्यवहार की अपेक्षा से सब प्रकार का व्यवहार सत्यार्थ है। इस प्रकार व्यवहार की अपेक्षा से निश्चय नय भी असत्यार्थ है, अभूतार्थ है। पुण्य भाव को धर्म कहना व्यवहार है, एवं आत्मा ने कर्म बांधा, भोगा कहना व्यवहार है परन्तु ऐसी श्रद्धा करे तो वह जीव मिथ्यादृष्टि ही है।

निश्चय नय आत्मा को शरीर राग द्वेष से भिन्न कहती है इसका एकान्त किया जावे तो शरीर राग द्वेष मोह आदि पुद्गल का ही ठहरेगा। तब पुद्गल के घात से हिंसा भी नहीं हो सकती है और राग द्वेष मोह पुद्गलमयी ठहरने से उससे बन्ध भी नहीं होगा। इसी तरह मात्र परमार्थ नय निश्चय नय मानने से संसार मोक्ष दोनों का अभाव हो जावेगा। ऐसा एकान्त स्वरूप वस्तु का स्वरूप नहीं है, इसलिए व्यवहार अपेक्षा व्यवहार सत्य है भूतार्थ है।

पुण्य पाप भाव को व्यवहार धर्म कहा जाता है और वीतराग भाव को निश्चय धर्म कहा जाता है। यह पुण्य पाप रूप व्यवहार धर्म संसार का एवं दुःख का ही कारण है। इस कारण यह व्यवहार धर्म छोड़ने लायक ही है। ऐसा पुण्य पाप भाव का नाम व्यवहार धर्म है ऐसा ज्ञान

न होने के कारण अज्ञानी कहता है कि महाराज सभी व्यवहार छोड़ने का उपदेश देते हैं। परन्तु अज्ञानी अप्रतिबुद्ध को मालुम नहीं है कि व्यवहार धर्म किसका नाम है। पुण्य पाप रूप भाव व्यवहार धर्म छोड़े बिना मोक्ष मिल ही नहीं सकती है और न शान्ति ही मिल सकती है। इसलिये जो जीव शान्ति चाहता है उसे व्यवहार धर्म छोड़ना ही पड़ेगा। यह परमार्थ सत्य है।

निक्षेप भी नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव के भेद से चार प्रकार का है। जिसमें गुण तो हो नहीं और व्यवहार के लिए उसकी संज्ञा कहना नाम निक्षेप है। अन्य वस्तु में अन्य की प्रतिमा रूप स्थापना करना कि यह योंही है यह स्थापना निक्षेप है। जिस पदार्थ में स्थापना होती है वह यथार्थ में नहीं देखी जाती है परन्तु भाव देखा जाता है। क्योंकि जिसमें स्थापना की जाती है वह नियम से अतदाकार ही होती है, परन्तु भाव में जो स्थापना की जाती है वह तदाकार है। वही स्थापना यथार्थ में पूज्य है और उसी भाव रूप तदाकार स्थापना का आरोप अन्य पदार्थों में किया जाता है। जैसे शतरंज के मोहरों में राजा प्रधान आदि की स्थापना की जाती है। परन्तु वह मोहरे राजा प्रधान नहीं हैं, परन्तु भाव में तो यथार्थ राजा प्रधान ही हैं। जैसे पीले चावल में पुष्प की

स्थापना की जाती है। यथार्थ में पीले चावल पुष्प नहीं हैं, परन्तु भाव में पुष्प ही हैं। जैसे धातु पाषाण की मूर्ति में भगवान की स्थापना की जाती है परन्तु वह धातु पाषाण की मूर्ति तदाकार नहीं है, क्योंकि भगवान के शरीर की लम्बाई चौड़ाई, शरीर में १००८ चिह्न हैं, वे धातु पाषाण की मूर्ति में नहीं हैं जिससे वह तो अतदाकार ही हैं। परन्तु भाव में तदाकार ही है। स्थापना बदल सकती है। स्थापना का आधार भाव है, जैसा-जैसा भाव बदलता है वैसी-वैसी स्थापना बदलती है। जैसे एक स्त्री में प्रथम पत्नी की स्थापना की थी तब वह पत्नी रूप देखने में आती थी। जब उसी स्त्री में बहिन की स्थापना की तब वही स्त्री बहिन रूप देखने में आती है। जब शास्त्र में जिन माता की स्थापना की तब उस शास्त्र को ढोक देते हैं, पूज्य मानते हैं। जब उसी शास्त्र में पोथी की स्थापना करते हैं तब उसी शास्त्र को पैर नीचे दबाकर जिल्द सिलाई करते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि स्थापना भाव के अनुकूल बदल जाती है। स्थापना में भाव प्रधान है परन्तु वस्तु गौण है। स्थापना निक्षेप का ज्ञान न होने के कारण एक बाप के दो बेटों में तेरापंथी और बीसपंथी का भेद पड़ गया। जहाँ पंथ हैं वहां नियम से कषाय भाव हैं और धर्म में पंथ नहीं है वही धर्म

सुख का कारण है। स्थापनादि निक्षेप किस नय का विषय है यह ज्ञान न होने के कारण सब अनर्थ की जड़ खड़ी हो जाती है।

धवल ग्रन्थ में कहा भी है कि—

नामं ठवणा दवियं ति एस दव्व दिठयस्स निखेवो। भावो दुपज्जवट्ठिय परुवणा एस परमट्ठो ॥६५॥

अर्थ—नाम-स्थापना और द्रव्य निक्षेप यह तीन द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं किन्तु भाव निक्षेप पर्यायार्थिक नय के विषय हैं यह परम सत्य है।

स्थापना निक्षेप द्रव्यार्थिक नय का विषय है अर्थात् स्थापना निक्षेप में पर्याय गौण है अर्थात् पर्याय नहीं देखी जाती हैं। परन्तु जीव को ज्ञान नहीं होने से वह भाव के अनुकूल जिसमें स्थापना की है उसी की पर्याय भाव के अनुकूल देखना चाहता है। परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है। स्थापना निपेक्ष में मात्र भाव देखा जाता है परन्तु जिससे स्थापना की है उसकी पर्याय देखी नहीं जाती है। भाव के अनुकूल यदि पर्याय देखना है तो भाव निक्षेप से समवशरण में जाकर पूजा कीजिये, जैसे—आपके भाव में तीर्थंकर देव हैं वैसे ही ठीक सामने

वे स्वयं विराजमान हैं। परन्तु स्थापना निक्षेप में मात्र अपना भाव का प्रधानपना है, न कि जिसमें स्थापना की है उसका प्रधानपना। जैसा २ भाव बदलता जायगा वैसी २ स्थापना भी बदलती जाती है। जैसे एक आकार की मूर्ति में पांच कल्याण कैसे किए जाते हैं। जैसा जैसा भाव बदलता है वैसे २ ही मूर्ति में कल्याण की स्थापना होती जाती है। परन्तु जीव को निक्षेप का ज्ञान न होने से भाव के अनुकूल सामने पदार्थ नहीं देखने से क्रोधादि कर भाई २ झगड़ा खड़ा कर लेता है। जिसकी बदौलत एक दिगम्बर सनातन धर्म का टुकड़ा होकर बीस पंथ--तेरह पंथ हो रहा है। शान्त चित्त से बैठ कर यदि एक दफे स्थापना निक्षेप का यथार्थ स्वरूप समझले तो इस झगड़े का अंत एक मिनिट में हो जावे। जैसे--घोर महा भयानक अंधकार का नाश प्रकाश मात्र से हो जाता है वैसे ही बहुत वर्षों की स्थापना की अपेक्षा से होने वाली कषाय का एक ज्ञान मात्र रूपी चिनगारी से नाश हो सकता है। परन्तु समाज का ज्ञान की ओर लक्ष नहीं है क्योंकि ज्ञान का उपदेश प्राप्त करना लोप ही होगया है और मात्र क्रियाकाण्ड में या शूद्र जल के त्याग में या यज्ञोपवीत धारण कराने में, या जबरदस्ती पंचामृत अभिषेक कराने का कदाग्रह

में ही धर्म समझकर विशेष रूप में आदेश त्यागी गण दे रहे हैं। यही समाज की अधोगति होने की अनर्थ की जड़ है। मिथ्यात्व छुड़ाने का यदि उपदेश देने में आवे तो समाज की यह अधोगति कभी भी नहीं होती, परन्तु त्यागीगण ऐसा उपदेश दें कैसे? जो स्वयं अज्ञान के प्रवाह में बह रहा हैं वह दूसरे को कैसे तार सकता है? जिसकी नाव फूटी हैं वह नाव भी डूबेगी और उसमें बैठने वाला भी नियम से डूबेगा। इससे सिद्ध हुआ कि स्थापना निक्षेप का ज्ञान करना बड़ा ही जरूरी है और इस ज्ञान बिना अपना एवं समाज का कल्याण और उद्धार होना महा कठिन है या अशक्य है।

वर्तमान पर्याय से अन्य अतीत अनागत पर्याय रूप वस्तु को वर्तमान पर्याय से कहना यह द्रव्य निक्षेप है। जैसे--बालक को तीर्थंकर कहना यह द्रव्य निक्षेप से कहा जाता है। द्रव्य निक्षेप भी द्रव्यार्थिक नय का विषय है वहां पर्याय नहीं देखी जाती है भाव देखा जाता है। जैसे--भाव में तो तीर्थंकर हैं और सामने बालक अवस्था है। इन्द्र इस निक्षेप ही से जन्माभिषेक करता है।

वर्तमान पर्याय रूप वस्तु को वर्तमान में कहना यह भाव निक्षेप है। जैसे समवशरण में विराजमान सर्वज्ञ वीतराग देव को तीर्थंकर कहना वह भाव निक्षेप से

कहा जाता है। जैसा आपका भाव है वैसा ही सामने यथार्थ पदार्थ है। रत्ती भर भी भाव में और सामने पदार्थ में फर्क नहीं है। यह भाव निक्षेप मात्र ही पर्यायार्थिक नय का विषय है।

जैन ग्रन्थ अनेकान्त एवं स्याद्वाद मुद्रा सहित ही होते हैं। ऐसे ग्रन्थ का स्वाध्याय नय निक्षेप ज्ञान बिना होना असंभव है। इसलिये जिज्ञासु जीवों को सर्व प्रथम नय निक्षेपादिक का ज्ञान करना बड़ा ही जरूरी है।

शंका—अनेकान्त किसको कहते हैं? अनेकान्त का क्या स्वरूप है?

समाधान—द्रव्य अनंत धर्मात्मक है, अर्थात् द्रव्य में अनंत गुण तथा उसकी अनंतानंत पर्याय है। एक गुण में दूसरे गुण का अभाव होते हुए भी प्रदेश भेद नहीं हैं। एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अभाव है। एक पर्याय में दूसरी पर्याय का अभाव हैं, यह स्वीकार करना उसी ज्ञान का नाम अनेकान्त है। मैं तीनों काल अस्ति रूप हूँ, मेरे में दूसरे द्रव्य का अभाव है, नास्ति है। ज्ञान गुण ज्ञान रूप है ज्ञान गुण में दर्शन गुण की नास्ति है। दर्शन गुण दर्शन रूप है, दर्शन गुण में चरित्र गुण की नास्ति है। चारित्र गुण चारित्र रूप है, चारित्र गुण में वीर्य गुण की नास्ति है। अर्थात् हरेक गुण स्वतंत्रपने

अपनी मौजूदगी रखता है। एक गुण दूसरे गुण का परिणमन करा देवे, ऐसा वस्तु का स्वभाव नहीं है। प्रत्येक गुण अपने २ अगुरुलघु से अपने में ही परिणमन करता है। इसी प्रकार उत्पाद, उत्पाद रूप है, उत्पाद में व्यय की नास्ति है, व्यय, व्यय रूप है—व्यय में उत्पाद की नास्ति है, ध्रौव्य, ध्रौव्य रूप है ध्रौव्य में उत्पाद व्यय की नास्ति है। ऐसा पर्याय की स्वतंत्रता जो ज्ञान स्वीकार करता है उसी ज्ञान का नाम अनेकान्त है।

शंका—स्याद्वाद का क्या स्वरूप है?

सामाधान—द्रव्य में जो विकारी पर्याय होती है उसी विकारी पर्याय को उपादान का प्रधानपना उसी विकारी पर्याय को वही द्रव्य कर्त्ता कहना तथा निमित्त के प्रधानपने उसी विकारी पर्याय का निमित्त कर्त्ता कहना स्वीकार करना ऐसे ज्ञान का नाम स्याद्वाद है। बुद्धि पूर्वक रागादिक का आत्मा को कर्त्ता मानना एवं अबुद्धि पूर्वक रागादिक के कर्म को कर्त्ता मानना यही स्याद्वाद है। तादात्म्य सम्बन्ध से आत्मा चेतन प्राण से जीता है और संयोग सम्बन्ध से आत्मा चार पुद्गलिक प्राणों से जीता है, यह कथन करना स्याद्वाद है। मात्र आत्मा चेतन प्राण से ही जीता है और चार प्राणों से जीता नहीं है ऐसा कहने वाले ने स्याद्वाद स्वीकार नहीं

किया। इसी कारण वह एकान्त मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि आत्मा में वर्तमान में रागादिक की पर्याय हो रही है तो भी वह रागादिक का अपने को कर्त्ता न मान कर पुद्गल द्रव्य कर्मों को रागादिक का कर्त्ता कहता है। इसी कथन का नाम स्याद्वाद है। रागादिक आत्मा में ही होता है इसी कारण अनेकान्त से कहा जावे कि आत्मा ही रागादिक का कर्त्ता है तब ऐसी मान्यता से तो रागादिक आत्मा का स्वभाव भाव हो जायगा और रागादिक को आत्मा का स्वभाव मानने से स्वभाव का नाश नहीं होता है तब रागादिक का भी नाश नहीं होगा, और रागादिक का नाश नहीं होने से मोक्ष का अभाव हो जायगा। रागादिक छोड़ने का उपदेश भी व्यर्थ हो जाता है इसी कारण कथंचित रागादिक का कर्त्ता आत्मा है कथंचित रागादिक का कर्त्ता आत्मा नहीं है, परन्तु पुद्गल द्रव्य कर्म कर्त्ता है यह कहना स्याद्वाद है।

जिसको पदार्थ के सामान्य का स्वरूप तथा विशेष स्वरूप का ज्ञान है उस ज्ञानी का नाम सम्यक् ज्ञानी है और ऐसे सम्यक ज्ञानी के मुख से ही शास्त्र सुनना चाहिये। परन्तु जो जीव मात्र सामान्य को ही मानता है अर्थात् निश्चय नय को ही मानता है और व्यवहार नय को मानता ही नहीं है, ऐसा जीव एकान्त मिथ्यादृष्टि है।

ऐसा एकान्त मिथ्यादृष्टि ऐसा ही वस्तु का स्वरूप का प्रतिपादन करता है कि आत्मा चेतन प्राण से ही संसार अवस्था से जीता है, चार प्राण से आत्मा जीता है, यह मिथ्या है। क्योंकि पुद्गल का आत्मा में अत्यन्त अभाव है। ऐसा कहने वाला एकान्त मिथ्यादृष्टि है। वह एकान्त मिथ्यादृष्टि ऐसा ही कहेगा कि आत्मा खाता ही नहीं है, आत्मा में क्रम बद्ध ही पर्याय होती हैं इत्यादि कहने वाले को निश्चयाभाषी मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। जो जीव मात्र व्यवहार को ही मानता है परन्तु निश्चय को मानता ही नहीं है। ऐसा जीव भी एकान्त मिथ्यादृष्टि ही है। ऐसा मिथ्यादृष्टि कहेगा कि पुण्य करते करते मोक्ष हो जावेगी। भक्ति ही मोक्ष का कारण है। कुछ करते रहो कुछ करते रहो कल्याण हो जावेगा। ज्ञान में क्या पड़ा है? क्रिया करते करते कल्याण हो जावेगा। ऐसा निश्चयभाषी तथा व्यवहारभाषी दोनों संसार में डूबेंगे। परन्तु स्याद्वाद को जानकर संसार से तिर जावेगा। ऐसा स्याद्वादी किसी नय की खेंचातानी नहीं करता है। जब स्याद्वादी निश्चय नय से वस्तु का स्वरूप प्रतिपादन करता है तब वह व्यवहार नय को गौण करता है, एवं जब व्यवहार नय से वस्तु का प्रतिपादन करता है तब निश्चय नय का गौण करता है। ऐसे ज्ञान का नाम

प्रमाण ज्ञान है और ऐसे प्रमाण ज्ञान का नाम सम्यक् ज्ञान है।

निश्चयाभाषी मुख से बड़ी बड़ी बातें ही बनाता है परन्तु रागद्वेष छोड़ने की तरफ उसका लक्ष ही नहीं है। वह पुण्य भाव में मंद कषाय है। पाप भाव में तीव्र कषाय है। जितनी कषाय छूट गयी वह अच्छा है ऐसा वह जीव मानता ही नहीं है। जिस कारण वह निरर्गल प्रवृत्ति कर संसार में नरक निगोद का ही पात्र बन जाता है। जब व्यवहाराभाषी मात्र क्रियाकाण्ड में धर्म मानता है यथार्थ ज्ञान करने का लक्ष ही नहीं है, मात्र पुण्य भाव से मोक्ष मानकर पुण्य भाव की ही चेष्टा करता है वह जीव भी पुण्य भाव के कारण कुछ पर्याय देव के भोग भोग कर संसार में ही रमता रहेगा। मोक्ष का स्वामी मात्र स्याद्वादी जीव है जो अपनी शक्ति अनुसार रागादिक की स्वभाव के लक्ष से निवृत्ति करता है प्रमाद करता नहीं है और शक्ति को छुपाता नहीं हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि मोक्ष के चाहने वाले जीव को नय निक्षेप तथा अनुयोग का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर राग द्वेष की निवृत्ति करना यह एकमात्र मोक्ष का मार्ग है दूसरा मोक्ष का मार्ग नहीं है।

शास्त्रों में मोक्ष मार्ग दो प्रकार का दिखाया है।

१—निश्चय मोक्ष मार्ग २—व्यवहार मोक्ष मार्ग। निश्चय मोक्ष मार्ग वीतराग भाव का ही नाम है और व्यवहार मोक्ष मार्ग अपूर्ण अवस्था में जो वीतराग भाव की प्राप्ति हुई है इसी के साथ में जो पुण्य भाव है इस पुण्य भाव को व्यवहार मोक्ष मार्ग कहा जाता है। परंतु व्यवहार मोक्ष मार्ग तो निश्चय मोक्ष मार्ग को घात ही करने वाला है ऐसा जानकर व्यवहार मोक्षमार्ग का अर्थात् पुण्य भाव का अभाव करते-करते निश्चय मोक्ष मार्ग में आरूढ़ होना वही यथार्थ मोक्ष मार्ग है। परन्तु पुण्य भाव करते-करते निश्चय मोक्ष मार्ग की प्राप्ति होगी ऐसी भावना नहीं करनी। व्यवहार मोक्ष मार्ग को अभाव से ही निश्चय मोक्ष मार्ग का कारण समझना चाहिये।

भाव कर्म—आत्मा में जो रागद्वेष मोहादि परिणाम होता है उसी परिणाम का नाम भाव कर्म है। रागादिक पर द्रव्य के अवलम्बन बिना होता ही नहीं है। यदि रागादिक पर द्रव्य के अवलम्बन बिना ही होता है, ऐसा माना जावे तो रागादिक आत्मा के स्वभाव भाव हो जाते हैं और स्वभाव भाव होने से स्वभाव भाव का नाश होता ही नहीं हैं। जिससे मोक्ष का भी अभाव हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा का रागादिक स्वभाव भाव नहीं है, परन्तु औपाधिकविभाव भाव है और

विभाव भाव नियम से पर के अवलम्बन से ही होता है तो भी पर पदार्थ रागादिक कराता नहीं है। यदि पर पदार्थ ही रागादिक करावे तो पर पदार्थ भी त्रिकाली द्रव्य है और पर पदार्थ त्रिकाली द्रव्य होने से रागादिक भी त्रिकाली रहेगा। इस अभिप्राय से भी मोक्ष का अभाव होता है। इससे सिद्ध हुआ कि रागादिक का उपादान कर्त्ता आत्मा ही है और रागादिक होने में पर द्रव्य ही निमित्त हैं।

निमित्त दो प्रकार का है। (१) ज्ञेय का निमित्त (२) रागादिक निमित्त ज्ञेय के निमित्त का नाम नोकर्म कहा जाता है और रागादिक के निमित्त का नाम द्रव्य कर्म कहा जाता है।

संसार में ज्ञेय न होवे और ज्ञानकी पर्याय हो जावे ऐसा कभी भी बन नहीं सकता है। ज्ञेय कारण है और ज्ञानकी पर्याय कार्य है। प्रथम कारण होता है बाद में ही कार्य होता है। कार्य हुए बाद ही कारण को स्वीकार करना यह उचित मार्ग नहीं है क्योंकि यह नियम है कि कारण बिना कार्य की उत्पत्ति होती ही नहीं है। जैसे गधे के सींग होता ही नहीं है। इसी कारण केवली परमात्मा को गधे का सींग झलकता ही नहीं है यदि केवली महा बलवान हैं तो अपने ज्ञान की गधे के सींग

रूप पर्याय बना तो दे ? असंभव है। क्योंकि ज्ञेय के बिना ज्ञान की पर्याय होती ही नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि प्रथम पर्याय ज्ञेय की होती है तत्पश्चात् पर्याय ज्ञान की होती है। ज्ञेय कारण है ज्ञान की पर्याय कार्य है।

ज्ञेय पदार्थ रागादिक का कारण नहीं है परन्तु आत्मा ज्ञेय को ज्ञेय रूप न देखकर जानकर ज्ञेय को रागादिक में कारण बना लेता है। यही आत्मा का अपराध है। इस अपराध में आत्मा ही कसूरवान है परंतु ज्ञेय पदार्थ कसूरवान नहीं है। आत्मा अपराध कर ज्ञेय को निमित्त बना लेता है। ऐसी अवस्था में आत्मा में अपराध पर्याय हुए बाद ही ज्ञेय में रागादिक के निमित्त का आरोप आता है। जैसे ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध में जैसी ज्ञेय की अवस्था है ऐसी ही ज्ञान की अवस्था होती है। परन्तु ज्ञेय को रागादिक का निमित्ति बनाया जाता है तब ज्ञेय में रागादिक रूप अवस्था नहीं होती है। परंतु मात्र आत्मा में ही रागादिक रूप अवस्था होती है। ऐसा सम्बन्ध अर्थात् ज्ञेय को रागादिक का निमित्ति बनाना ऐसे सम्बन्ध का नाम उपादान निमित्त सम्बन्ध है। ऐसे उपादान निमित्त सम्बन्ध में उपादान की प्रधानता है निमित्त गौण है। क्योंकि ज्ञेय को रागादिक का

निमित्त बनाना कि नहीं, यह आत्मा पर ही आधार रखता है। ऐसी अवस्था में आत्मा स्वतन्त्र है। जैसेः—

दो मनुष्य बैठे हैं। इतने में इनके पास से एक स्त्री अपने स्वाभाविक भाव से जा रही थी। इस स्त्री को देखकर एक मनुष्य ने अपने भाव में विकार किया। तब वह मनुष्य कहता है कि मेरे विकार भाव होने में यह स्त्री निमित्त है। परन्तु स्त्री में न विकार हुआ है और न उसने विकार कराया है। जब दूसरा मनुष्य कहता है कि स्त्री तो मेरे ज्ञान की ज्ञेय थी। हमने स्त्री को देखा जरूर है, परन्तु उसने हमको विकार नहीं कराया है। जिस मनुष्य ने अपने विकार में स्त्री को निमित्त बना लिया वह तो उस पुरुष का अपराध है, परन्तु स्त्री का अपराध नहीं है। ऐसा जहां २ अपराध बनाया जाता है उसी का नाम निमित्त उपादान सम्बन्ध है, जिसे शास्त्रीय भाषा में बुद्धिपूर्वक उदीरणा कही जाती है। उदीरणा में उपादान की मुख्यता है। क्योंकि उसने ही ज्ञेय पदार्थ को निमित्त बना लिया है। दूसरे मनुष्य ने तो स्त्री को मात्र ज्ञेय रूप जानी है। इस सम्बन्ध का नाम ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है। ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध में ज्ञेय की प्रधानता है ज्ञान गौण है। क्योंकि ज्ञेय बिना ज्ञान होता ही नहीं है। इसी से ज्ञेय निमित्त

है। ज्ञान की पर्याय कार्य है। ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध में जैसा ज्ञेय है वैसी ही ज्ञान की पर्याय होती है। परन्तु ज्ञेय को रागादिक में निमित्त बनाने में आत्मा में जैसी रागादिक रूप अवस्था होती है ऐसे ज्ञेय को जो निमित्त बनाया है उसमें रागादिक रूप अवस्था नहीं होती है। इस ज्ञेय ज्ञायक और निमित्त उपादान सम्बन्ध में अन्तर है ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध में ज्ञेय कारण बनकर ही आता है अर्थात् प्रथम कारण बाद में ज्ञान रूप कार्य; परन्तु निमित्त उपादान सम्बन्ध में ज्ञेय विकार का निमित्त बनकर नहीं आया है परन्तु आत्मा ने ज्ञेय को रागादिक में निमित्त बनाया है। इससे आत्मा का प्रधानपना है।

द्रव्य कर्म—द्रव्य कर्म उसे कहते हैं जो आत्मा को रागादिक का निमित्त पाकर कार्माण वर्गणा ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म रूप अवस्था धारण करता है उसको द्रव्य कर्म कहते हैं। द्रव्य कर्म आठ हैं। १--ज्ञानावरण, २--दर्शनावरण, ३--वेदनीय, ४--मोहनीय, ५--आयु, ६--नाम, ७--गोत्र, ८--अन्तराय। इन अष्ट कर्मों में चार कर्म घातिया कर्म कहे जाते हैं:— १--ज्ञानावरण, २--दर्शनावरण, ३--मोहनीय, ४--अन्तराय। यह चारों कर्म आत्मा की भाववती शक्ति को घात करते हैं। ज्ञानवरण

कर्म आत्मा के ज्ञानगुण को घात करता है । ज्ञानवरण कर्म कारण है और आत्मा के ज्ञान गुण की हीन अवस्था होना कार्य है । २--दर्शनावरण कर्म आत्मा के दर्शन गुण को घात करता है । जितने अंश में दर्शनावरण कर्म का सद्भाव होगा उतने ही अंशों में आत्मा के दर्शन चेतना गुण की नियम से हीन अवस्था ही होगी । दर्शनावरण कर्म कारण है, दर्शन चेतना की हीन अवस्था कार्य है । मोहनीय कर्म दो प्रकार का है १--दर्शन मोहनीय, २-चारित्र मोहनीय । दर्शन मोहनीय आत्मा के श्रद्धा गुण का घात करता है । आत्मा में मिथ्यात्व भाव रहता है । दर्शन मोहनीय कारण है, आत्मा के श्रद्धा गुण की मिथ्यात्व रूप अवस्था होना कार्य है । चारित्र मोहनीय आत्मा के चारित्र गुण का घात करता है । जितने अंश में चारित्र मोह का उदय होगा उतने ही अंश में आत्मा को चारित्र गुण की हीन अवस्था ही धारण करना होगा । अर्थात् इतने अंश में आत्मा में रागादिक नियम से होगा ही । चारित्र मोहनीय कर्म कारण है और आत्मा के चारित्र गुण की अवस्था कार्य है ।

वेदनीय, आयु, नाम, गौत्र अघातिया कर्म हैं । ये आत्मा की क्रियावती शक्तियों का घात करते हैं । ये घात

आत्मा के सुखादि में विघ्न करने वाले नहीं हैं परन्तु मोक्ष होने में जरूर बाधा डालते हैं। वेदनीय कर्म के उदय से आत्मा के अव्याबाध गुण का घात होता है। एवं वेदनीय कर्म बाह्य सामग्री के संयोग वियोग भी कराता है। आयु कर्म आत्मा के सूक्ष्मत्व गुण का घात करता है। जब तक आयु कर्म का उदय है तब तक सूक्ष्मत्व गुण को नियम से अशुद्धावस्था धारण करना ही होगा। आयु कर्म कारण है और सूक्ष्मत्व गुण की अशुद्ध अवस्था कार्य है। नाम कर्म आत्मा के अवगाहना गुण को घात करता है जब तक नाम कर्म का उदय है तब तक उस शरीर के आकार से अवगाहन गुण को रहना ही पड़ेगा। देव नाम कर्म का उदय आवे तो आत्मा को देव का शरीर धारण करना ही पड़ेगा। बैल घोड़ा आदि तिर्यंच नाम कर्म का उदय आने से आत्मा को बैल घोड़ा आदि अवस्थायें धारण करनी ही पड़ेगीं। नाम कर्म कारण है और आत्मा की तिर्यंच नारकी मनुष्य देवादि अवस्था कार्य है।

गौत्र कर्म के उदय में आत्मा के अगुरुलघु नाम का गुण नियम से अशुद्ध अवस्था धारण करता ही है। गौत्र कर्म दो प्रकार का है १—उच्च गौत्र २—नीच गौत्र।

गौत्र कर्म कारण है और अगुरुलघु गुण की अवस्था कार्य है।

यह द्रव्य कर्म आत्मा की अर्थात् आत्मिक गुण की विकारी अवस्था का ही कारण है। नौकर्म को कारण उपचार से किया जाता है वह तो कारण का भी कारण है। नौकर्म ज्ञेय का कारण है और द्रव्य कर्म आत्मा की विकारी अवस्था का कारण है। द्रव्य कर्म के साथ में आत्मा का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। परन्तु निमित्त उपादन सम्बन्ध नहीं है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध में निमित्त में प्रथम अवस्था होती है। बाद में निमित्त के अनुकूल ही नैमित्तिक की अवस्था होती है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध में निमित्त का ही प्रधानपना है और नैमित्तिक गौण है। क्योंकि नैमित्तिक को निमित्त के अनुकूल ही अवस्था धारण करनी हो पड़ती है। यही नैमित्तिक की पराधीनता है।

द्रव्य कर्म आत्मा की विकारी अवस्था में निमित्त है यह कहना उपचार है। परन्तु पर्याय समयवर्ती है। एक समय में दो पर्याय नहीं होतो हैं। इससे एक समय के कर्म का उदय ही आत्मा के विकार का निमित्त है। दूसरे समय में दूसरा निमित्त, तीसरे समय में तीसरा निमित्त इत्यादि। कर्म के उदय के साथ आत्मा की अवस्था का

निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है । द्रव्य कर्म निमित्त कारण है और आत्मा की विकारी पर्याय नैमित्तिक पर्याय कार्य है । प्रथम कारण की अवस्था होती है तत्पश्चात् नैमित्तिक में कार्य रूप अवस्था होती है । जैसे जितना ज्ञानवरणकर्म का उदय होगा उतना ही ज्ञान गुण की हीन ही पर्याय होगी । जितने अंश में मोहनीय कर्म का उदय होगा उतने ही अंश में आत्मा में नियम से रागादिक भाव होता ही रहेगा । मोहनीय कर्म का उदय हो और आत्मा की रागादिक रूप अवस्था न हो ऐसा कभी भी बन सकता नहीं है । जिस नाम कर्म का उदय होगा उसी गति में आत्मा को जाना ही पड़ेगा । उस गति में आत्मा न जावे ऐसा बनता नहीं । जितने अंश में आत्मा में पुण्य पाप का भाव होगा उतने ही अंश में द्रव्य कार्माण वर्गणा को नियम से ज्ञानवरणादि रूप अवस्था धारण करनी ही पड़ेगी । आत्मा का भाव कारण है तत्पश्चात् कार्माण वर्गणा की कर्म रूप अवस्था होना कार्य है । यद्यपि कारण कार्य में भेद है परन्तु समय भेद नहीं है ।

कर्म का उदय समय समय में होता है और छद्मस्थ आत्मा का ज्ञानोपयोग असंख्यात समय में ही होता है । ऐसी अवस्था में अज्ञानी जीव ऐसा कहे कि मोहनीय कर्म के उदय में रागादिक करना या नहीं करना आत्मा के

हाथ की बात है तो यह कहना उसका व्यर्थ है। प्रथम तो एक समय की पर्याय उसके ज्ञान का विषय नहीं है तब वह कैसे कह सकता है कि कर्म के उदय में मैं रागादिक न करूँ ? दूसरी बात आत्मा के पुरुषार्थ की हीनता है तब तो कर्म का उदय हुआ है। यदि आत्मा के पुरुषार्थ की हीनता न होती तो सामने कर्म का उदय कभी भी नहीं होता। ऐसी अपनी हीन अवस्था में कहना कि कर्म के उदय में रागादिक न करूँ वह भी उसका कहना मिथ्या है। तीसरी बात की आत्मा का परिणाम और कर्म के साथ में आत्मा का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, यह भी इसने स्वीकार नहीं किया ; क्योंकि कर्म कारण है और आत्मा की रागादिक परणति कार्य है—यह भी उसने स्वीकार नहीं किया अर्थात् निमित्त के अनुकूल ही नैमित्तिक की अवस्था होती है वह भी उसने स्वीकार नहीं किया। जिससे सिद्ध हुआ कि कर्म के (मोहनीय) उदय में रागादिक न करूं यह कहने वाला अज्ञानी अप्रतिबुद्ध मिथ्यादृष्टि ही है।

नोकर्म—आत्मा के रागादिक परिणाम और द्रव्य कर्म ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों को छोड़कर लोक के जितने पदार्थ हैं अर्थात् अनंत जीव द्रव्य अनंतानंत पुद्गल द्रव्य एक धर्म द्रव्य एक अधर्म द्रव्य एक आकाश द्रव्य

और असंख्यात कालाणु द्रव्य जिसमें देव—गुरु शास्त्रादि सब आगये, उसका नाम नोकर्म है। नोकर्म हमारे रागादिक का निमित्त नहीं है परन्तु वह तो ज्ञेयका निमित्त है। नोकर्म बिना रागादिक होता नहीं है तो भी नोकर्म रागादिक कराता नहीं है। जैसे जल बिना मछली चल नहीं सकती है तो भी जल मछली को जबरदस्ती से चलाता नहीं है। देवगुरु शास्त्र हमारा कल्याण नहीं कर सकता है तो भी देव-गुरु और शास्त्र का ज्ञान किए बिना धर्म होता भी नहीं, अर्थात् कल्याण होता ही नहीं है। नोकर्म को जो रागादिक का निमित्त कहा जाता है वह तो उपचार मात्र है अर्थात् वह तो निमित्त का निमित्त है। यथार्थ में रागादिक का निमित्त द्रव्य कर्म ही है। नोकर्म को निमित्त कहना वह तो मात्र बोलने का व्यवहार है। परन्तु नोकर्म ज्ञेय का जरूर निमित्त है—इसके बिना तद्रूप ज्ञान की पर्याय नहीं हो सकती है। कारण बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है यह अकाट्य नियम है।

नोकर्म के साथ में यदि आत्मा उसको ज्ञेय रूप में देखे तब तो ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है और जब आत्मा स्वयं अपराधकार उसीको रागादिक में निमित्त बना लेता है तब उसके साथ निमित्त उपादान अर्थात् उदीरणा का सम्बन्ध

है। उदीरणा नियम से बुद्धि पूर्वक अपराध में ही होती है परन्तु ज्ञानकी लब्धि रूप अवस्था में नहीं होती है।

द्रव्य कर्म के साथ में आत्मा का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध कर्म के उदय में ही होता है और कर्म के उदय में आत्मा का अबुद्धिपूर्वक अपराध होता है। जिसमें कषाय शक्ति का प्रधानपना है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध में आत्मा पराधीन ही है और निमित्त उपादान सम्बन्ध में आत्मा स्वतंत्र है।

निमित्त उपादान सम्बन्ध में सम्यग्दृष्टि आत्मा चारित्र की अपेक्षा से रागादिक का अपने को ही कर्त्ता मानता है और निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध में सम्यग्दृष्टि आत्मा रागादिक का द्रव्य कर्म को कर्त्ता मानता है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि आत्मा रागादिक बुद्धि पूर्वक करने को चाहता नहीं है परन्तु कर्म के उदय के बल द्वारा रागादिक हो जाता है। जैसे कुन्दकुन्द स्वामी को वेद की उदीरणा नहीं होती है, वेद का भाव करने को भी नहीं चाहता है, तो भी अबुद्धिपूर्वक उसको भी समय समय में वेद का बंध पड़ रहा है। यही तो कर्म के उदय की बलजोरी है। मानो या न मानो परन्तु आगम तो प्रमाण है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भाव लिंगी मुनि को भी समय समय में क्रोधादिक चारों कषाय का बन्ध पड़ रहा है। सम्यग-

दृष्टि आत्मा बुद्धि पूर्वक अपराध सातवें गुणस्थान में करता भी नहीं है तो भी कर्म के उदय की बलजोरी से रागादिक हो जाता है और बन्ध पड़ रहा है। ऐसा बन्ध दसवें गुणस्थान तक पड़ रहा है। बन्ध से रहित वीतराग दशा प्रगट हुए बाद ही होता है और ऐसी दशा बारहवें गुणस्थान के पहले समय में हो जाती है।

इसी प्रकार सतगुरु के मुख से उपदेश सुनकर विचार करना, विचार किये बाद उसको धारणा में रखना, उस धारणा का नाम देशना लब्धि है। उपदेश सुनना वह व्यवहार है और उपदेश में कारण भी व्यवहार सतगुरु का ही हो सकता है।

कोई कारण से देशना-लब्धि हुए बाद भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हुई और आयु पूरी होगई। पाप के उदय से यदि नरकादि गति में भी जाना पड़े तो भी वहां सत देव गुरु और शास्त्र का बाह्य में निमित्त न होने से भी जीव वेदना के कारण से विचार करे तो वहां भी जातिस्मरण ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, और जो बात पूर्व में देशना-लब्धि में धारणा रूप रखी थी वह बात वहाँ भी याद आ जाती है, और उस पर विचार कर जीव सप्तम नरक जैसे स्थान में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अपने धारणा ज्ञान को निमित्त बनाकर कर सकता है।

इससे सिद्ध हुआ कि देशना-लब्धि मोक्ष मार्ग में अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में प्रधान कारण है। इससे सिद्ध हुआ कि आगम द्वारा तत्त्वों का निर्णय करना यह सम्यग-दर्शन प्राप्त करने में प्रधान कारण है। तत्त्वों की बुद्धि पूर्वक श्रद्धा करना वही आत्मा का पुरुषार्थ है और अभ्य-न्तर निमित्त दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय होना, उपशम होना और क्षयोपशम होना वह तो अबुद्धि पूर्वक मिल ही जाता है। उसके मिलने से आत्मा नियम से सम्यग-दृष्टि बनेगा ही, इसमें संशय नहीं है।

आत्मा का बुद्धि पूर्वक अपराध—संसार के कोई भी पदार्थ-नोकर्म इष्टानिष्ट नहीं हैं, परन्तु मोहादिक के वश होकर आत्मा स्वयं उनमें रुचि पूर्वक इष्टानिष्ट कल्पना करता है। इसी कल्पना का नाम अनन्तानुबन्धी कषाय है। यदि आत्मा इष्टानिष्ट कल्पना न करे तो नोकर्म आत्मा पर जबरदस्ती नहीं करता है कि हमको देखकर आप इष्टानिष्ट कल्पना करो। समयसार ग्रन्थ में भी अमृतचन्द्रसूरी ने कलश १५१ में कहा है कि हे ज्ञानी ! तुझे कभी कुछ भी कर्म करना योग्य नहीं है तो भी तू कहता है कि पर द्रव्य तो मेरा कदाचित् होता ही नहीं है और मैं पर द्रव्य को भोगता हूँ तब आचार्य कहते हैं कि यह बड़ा खेद है कि जो तेरा नहीं है उसी को तू भोगता है ? इसी तरह

भोगने वाला तू खोटा खाने वाला है। हे भाई! जो तू कहे कि पर द्रव्य के उपभोग से बन्ध नहीं होता है, ऐसा आगम में कहा है इसलिये भोगता हूँ, तो क्या तेरा पर द्रव्य को भोगने का भाव है? तू तो ज्ञान रूप रह कर अपने ज्ञान का भोगकर, तब तो तुझे बन्ध नहीं है परन्तु तू पर द्रव्य को भोगने की इच्छा करेगा तो इच्छा तो तेरी ही है इस इच्छा से तू नियम से बन्धन में पड़ेगा। क्योंकि इच्छा करना तेरा ही अपराध है। तब अपने अपराध से नियम से बन्ध को प्राप्त होगा।

परन्तु आत्मा स्वयं बुद्धि पूर्वक अपराध कर अर्थात् उदीरणा कर संसार बढ़ा देता है। वह आत्मा का ही अपराध है और इस अपराध से द्रव्य कर्म की स्थिति और अनुभाग बढ़ जाता है। अर्थात् सत्तावाले कर्मों में संक्रमण-उत्कर्षण-अपकर्षणादि होता रहता है। ऐसा बुद्धि पूर्वक अपराध छटवें गुणस्थान तक ही होता है। क्योंकि सातवें से आगे का गुणस्थान ध्यान अवस्था में ही होता है। पर द्रव्य बन्ध का कारण नहीं है यही बात कुन्द-कुन्द स्वामी ने श्री समय सार ग्रन्थ के बन्धाधिकार की २६५ वीं गाथा में कहा है कि—

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं
ण य वत्थु होदु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि॥

अर्थ—जीवों के जो अध्यवसान-भाव है वह वस्तु के अवलम्बन से ही होता है तो भी वस्तु बन्ध का कारण नहीं है अध्यवसान से ही बन्ध होता है।

कोई भी नो कर्म बन्ध का कारण नहीं है, परन्तु आत्मा का अपराध ही बन्ध का कारण है। आत्मा बुद्धि पूर्वक अपराध चार संज्ञा द्वारा करता है। (१) आहार संज्ञा (२) भय संज्ञा (३) परिग्रह संज्ञा (४) मैथुन संज्ञा। इन चार संज्ञाओं में विशेषकर पाप भाव आजाता है। पाप भाव किसको कहता है यही बात कुन्द कुन्द स्वामी ने पंचास्तिकाय ग्रन्थ की गाथा १४० में कहा है कि—

सण्णाओ य तिलेस्साइंदियवसरायअत्तरुद्दाणि
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ॥

अर्थ--चार संज्ञा और तीन अशुभ लेश्या और इन्द्रियों के आधीन होना, आर्तध्यान, रौद्रध्यान, सत क्रिया से असतक्रियाओं में ज्ञान का लगाना, तथा दर्शनमोहनीय व चारित्र मोहनीय के समस्त भाव हैं वे सभी पापरूप भाव हैं जिनसे आत्मा कर्मों से बन्धता है।

आहार संज्ञा—मर्यादित और अमर्यादित आहार लेने का भाव है। वही आहार संज्ञा है यह पाप का ही भाव है। मर्यादित आहार लेने में मन्द पाप का बन्ध

पड़ता है और अमर्यादित आहार लेने में तीव्र पाप का बन्ध पड़ता है ! मर्यादित एवं अमर्यादित तीव्र एवं मन्द पापका कारण नहीं है, परन्तु पाप का कारण तो नियम से भाव ही है। जैसे एक ही चौके में दश मनुष्यों ने एक ही किस्म का आहार लिया तो भी पाप का बन्ध सब जीवों को अपने तीव्र भावादिक राग के अनुकूल ही पड़ेगा। परन्तु पाप का ही बन्ध पड़ेगा। यह तो नियम है। अमर्यादित आहार खाने का भाव छूट गया वही भाव पुन्य भाव है। विशेष-कर लोग एवं त्यागी गण अमर्यादित आहार खाने में पाप मानते हैं और शुद्ध आहार खाने में पुण्य मानते है पर इस मान्यता का नाम मिथ्यात्व मान्यता है। क्योंकि पाप तत्व को पुण्य तत्त्व मानना मिथ्यात्व है और पुण्य तत्व को निर्जरा तत्त्व मानना मिथ्यात्व है। जो जीव पदार्थ खाता नहीं है परन्तु उसका त्याग नहीं करता है उसी को नियम से समय २ में पाप का ही बन्ध पड़ता है क्योंकि जब खाता नहीं है तब त्याग क्यों नहीं किया ? त्याग नहीं करने का कारण भीतर में वासना नियम से पड़ी है और उस वासना का जब तक त्याग न किया जावे तब तक पाप का ही बन्ध पड़ता है। इसलिए धर्मात्मा जीवों को ऐसी वासना छोड़ने के लिये नियम से त्याग करना

उचित मार्ग है। नहीं तो असंयम भाव का बन्ध नियम से पड़ेगा ही।

पदार्थ देखकर आत्मा खाने का स्वयं भाव करता है परन्तु पदार्थ खाने का भाव करता नहीं है। आत्मा का स्वभाव पर पदार्थ को देखने का है परन्तु आत्मा उस पदार्थ को मात्र ज्ञायक न रह कर अपने संज्ञक स्वभाव से च्युत होकर पर पदार्थ को खाने का भाव करता है वही आत्मा का निज का अपराध है। आत्मा ज्ञेय पदार्थ को ज्ञेयरूप न जानकर अपने रागादिक में उसी को निमित्त बना लेता है। ज्ञेय पदार्थ में रागादिक कराने की शक्ति नहीं है, उसमें तो ज्ञेय बनाने की शक्ति है, परन्तु आत्मा अपराध कर उसको अपने रागादिक में निमित्त बना-लेता है। निमित्त होना और निमित्त बना लेना इसमें महान अन्तर है। निमित्त उसी का नाम है जो नियम से कार्य में परिणत करावें।

भय संज्ञा—भय सात प्रकार का होता है। (१) ईहलोक भय (२) परलोक भय (३) वेदना भय (४) मरण भय (५) अकस्मात् भय (६) अरक्षाभय (७) अगुप्ति भय। यह भय अज्ञानी को ही होता है क्योंकि वस्तु-पदार्थ के स्वरूप का उसको ज्ञान नहीं है। वह तो शरीर को ही जीव मानता है और शरीर के नाश से

अपना नाश मानता है। मुख से कभी-कभी ऐसा भी बोले कि जीव और शरीर भिन्न है परन्तु यह तो मात्र बोलने की बात है, यथार्थ श्रद्धा नहीं है। क्योंकि स्वरूप का ज्ञान बिना श्रद्धा कभी होता ही नहीं है। जब तक श्रद्धा न होवे तब तक भय जरूर रहता है।

जीवन की रक्षा करने का भय, कुटुम्बादिक को कोई मार न डाले, इसकी रक्षा का भय, दश प्रकार के परिग्रह की रक्षा का भय, मेरे शरीर में एवं मेरे निकट के संबंधी के शरीर में रोगादिक की उत्पत्ति न हो इस प्रकार का भय इत्यादि अनेक प्रकार के भय का परिणाम आत्मा में होता है। इसी का नाम भय संज्ञा है। भय संज्ञा पाप प्रकृत्ति है जिस कारण से भय के भाव से आत्मा में पाप का ही बन्ध पड़ता है। इस भय का मूल कारण पदार्थ का यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं होना है। इस अज्ञान भाव का नाम मिथ्यादर्शन है। लोक में जितने पदार्थ हैं वे सब नोकर्म हैं। अपना शरीर, माता-पिता, पुत्रादि सब नोकर्म हैं। परन्तु जीव नोकर्म को निमित्त बनाकर उसकी रक्षा के लिये भयवान है। शरीर आदिक की रक्षा करना आत्मा के हाथ की बात नहीं है। क्योंकि शरीर पर मालिकी आत्मा की नहीं है, परन्तु शरीर पर मालिकी द्रव्य कर्म की है। आत्मा शरीर

आदिक का मालिक बनकर दुखी हो जाता है तो भी शरीर उसके अनुकूल परिणमन नहीं करता है। शरीर को पुष्ट बनाने के लिये बादाम आदि टोनिक वस्तुओं को ग्रहण कर उनसे खून वीर्य आदि का बनना आत्मा की इच्छा के आधीन नहीं है। वह तो जैसा २ कर्म का उदय होगा वैसी २ अवस्था धारण करेगा। आप नहीं चाहते हैं पर काल पाकर बाल काले से सफेद हो ही जाते हैं। आप नहीं चाहते हैं और काल पाकर दांत गिर जाते है। आप नहीं चाहते हैं और शरीर में काल पाकर झुरियां पड़ ही जाती हैं। तो भी आत्मा शरीर की रक्षा के लिये भयभीत है। आत्मा अज्ञान के कारण अपने ज्ञायक स्वभाव से च्युत होकर शरीर कुटुम्बीजन आदिक में रक्षा और रक्षक भाव उत्पन्न कर भयवान बना ही रहता है। यह सब आत्मा का बुद्धि पूर्वक अपराध है।

परिग्रह संज्ञा—मूर्च्छा का नाम परिग्रह है। आत्मा ज्ञाता दृष्टा है; परन्तु अपने स्वभाव का ज्ञान न होने के कारण पर पदार्थ में सुख की कल्पना कर महादुखी हो रहा है। परिग्रह पाप की जड़ है। जहां परिग्रह रखने का भाव है वहां पाप ही है। मूर्च्छा महा दुखदायी है, पदार्थ दुखदायी नहीं है। जीव की हिंसा में पाप लगे या न भी

लगे परन्तु जहां मूर्च्छा है वहाँ नियम से पाप ही है, आकुलता ही है। पास में एक कोड़ी नहीं है परन्तु मूर्च्छा लाखों की रखकर जीव दुखी हो रहा है। जिसके पास में लाखों रुपये हैं परन्तु वहां मूर्च्छा करोड़ों की है, इससे लखपती भी महान दुखी है। भाई-भाई में झगड़ा होने का मूल कारण तो परिग्रह ही है। जिसने परिग्रह की मूर्च्छा को जीत लिया उसने सबको जीत लिया। वही जीव मोक्ष का पात्र बन गया, वही पूज्य बन गया। इससे सिद्ध हुआ कि मूर्छा का त्याग ही धर्म है, वही सच्चा सुख है, वही मोक्ष के मंदिर में पहुँचाने वाला जहाज है। आत्मा ज्ञाता दृष्टा न रहकर बुद्धि पूर्वक अपराध कर धनादि दश प्रकार के वाह्य परिग्रह-संचय में सारा पुरुषार्थ कर रहा है? परन्तु वाह्य सामग्री आत्मा के पुरुषार्थ से मिलती नहीं है। वह तो मात्र साता वेदनीय कर्म के उदय से ही मिलती है। जिसके लिये पुरुषार्थ करना व्यर्थ है। धन कमावे, तहाँ कहेगा हमने कमाया, हमारी बुद्धि से कमाया, परन्तु जहां धन गुमावेगा वहां कहेगा कि भाग्य में नहीं था। परन्तु मूर्ख कमाते वक्त क्यों ऐसा नहीं कहता है कि भाग्य में था सो मिला। यदि इतनी श्रद्धा हो जावे तो बहुत शान्ति मिल जावे। परन्तु इतनी श्रद्धा करे कहां से? पदार्थ का ज्ञान तो है नहीं,

धर्म की रुचि भी है नहीं, पीछे शेखचिल्ली का विचार न करे तो करे क्या ? मन तो बन्दर की जाति का है अर्थात् बहुत हो चंचल है। वह शान्त नहीं बैठ सकता। कुछ न कुछ विकल्प तो नियम से करेगा ही । परन्तु इसी मन रूपी बन्दर को स्वाध्याय में लगा दे तो शान्त होने के साथ २ कल्याण के मार्ग पर आजावे । परन्तु शास्त्र-स्वाध्याय की ओर रुचि ही नहीं होती है। गृहस्थ के लिये उत्तम मार्ग यह है कि यदि वह सुखी होना चाहता है तो वह नियम से परिग्रह की मर्यादा करे। इसमें उसको क्या खाना पीना छूट जाता है ? परन्तु लक्ष ही नहीं। लाख रुपये वाला दो लाख के परिग्रह की मर्यादा तो कर ले। पीछे देखो कि कितनी आकुलता कम हो जाती है । जो करोड़ों का विकल्प उठता था वह सब विकल्प आप से आप विलय हो जावेगा। जो विकल्प मिट जावे उसी का नाम तो सुख है। और सुख है क्या ? यह परिग्रह का परिमाण बुद्धि पूर्वक ही करने का है। यह परिमाण न करे तो किसका अपराध है। आत्मा का ही अपराध है । पदार्थ का त्याग किया नहीं जाता है परन्तु यथार्थ में मूर्च्छा का त्याग किया जाता है। जिसने मूर्च्छा का त्याग किया वही सच्चा त्यागी है। जो पदार्थ को मात्र त्यागता है

वह तो ठगा हुआ आत्मा है। उसको शान्ति की गन्ध भी मिल नहीं सकती है। इससे सिद्ध हुआ कि जो परिग्रह संचय करने का भाव है मूर्च्छा है । वही पापकी एवं अनर्थ की जड़ है।

मैथुन संज्ञा--स्त्री पुरुष एवं दोनों के साथ रमणकरने के भाव का नाम मैथुन संज्ञा है। इसमें खाना पीना तो है ही नहीं, मात्र स्पर्श इन्द्रियका विषय है। परन्तु इस विषय में इतनी शक्ति है कि आत्मा को पागल बना देता है। पांच पाप में काम वासना को जीतना महा कठिन है। आत्मा का स्वभाव देखना जानना है; परन्तु वह अपने स्वभाव से गिर कर जहां स्त्री पुरुष का रूप देखता है वहां पागल बन जाता है, तुरन्त विषय सेवन की भावना पैदा कर लेता है। मिलता कुछ नहीं है, परन्तु काम विकार से देखे बिना उससे रहा नहीं जाता है। यही तो आत्मा का अपराध है। स्त्री को देखना पाप नहीं है वह तो आत्मा का स्वभाव है । परन्तु विकार भाव से देखना पाप है। सोलह वर्ष की लड़की विधवा हो जावे तो वहां तो आत्मा चाहता है कि यह लड़की यथार्थ ब्रह्मचर्य का पालन करे, परन्तु आप स्वयं ५० वर्ष की उम्र का है तो भी अब्रह्म का सेवन करना नहीं छोड़ता है। यह आत्मा का मूर्खपना नहीं है तो क्या

है ? माता विधवा पुत्री के पास में प्रसूति का कार्य करावे वहां कितने शर्म की बात है। परन्तु काम में अंधा उस तरफ देखता ही नहीं है। अपने छोटे बच्चों के सामने जिसको विषय सेवन करने में शर्म नहीं है वह जीव अपने बच्चे से सुख की कल्पना कैसे कर सकता है ? विचार की बात है। बेटे को धर्म की शिक्षा देना तो नहीं चाहता है और उसके पास से सुख की आशा रखे वह तो आकाश पुष्प जैसी आशा है। उचित मार्ग तो यह है कि अपने घर में अपनी बेटी या बहू पाप के उदय से विधवा बन जावे तो माता पिता या सासू श्वसुर का फर्ज है कि वह भी ब्रह्मचर्य का पालन कर अपनी पुत्री या बहू को भी धर्मात्मा बनाने की चेष्टा करे। दोनों का कल्याण हो जावेगा। परन्तु काम वासना ऐसी है कि साठ वर्ष का बूढ़ा हो जावे तो भी ब्रह्मचर्य पालन करने का भाव नहीं है। यह किसका अपराध है ? पागल आत्मा का ही अपराध है। यह अपराध बुद्धि पूर्वक विवेक से ही छूट सकता है। परन्तु आत्मा उसकी ओर लक्ष करे तब तो। संसार में रह कर सुखी बनना चाहता है तो गृहस्थ को जब संतान की उत्पत्ति हो तब से दो वर्ष तक तो नियम से ब्रह्मचर्य से ही रहना चाहिए। जिससे बच्चे को अपनी माता का दूध पीने

का ठीक २ समय मिले। पिता की भी वीर्य शक्ति में बढ़बारी हो और दो वर्ष में माता भी अपनी प्रसूति में गमाई हुई शक्ति को प्राप्त कर ले। यह मार्ग तो उत्तम सर्व प्रकार से है परन्तु ग्रहण करे कौन ? जो विषय में अंधा बना है वह कैसे मानेगा ? तेरह वर्ष की लड़की के साथ शादी करे कि जिस लड़की की तो अभी बाल्यावस्था है जिसके अभी तो खेलने कूदने के दिन हैं। परन्तु विचार कौन करता है। विषय में अंधे बने मनुष्य ऐसी छोटी २ बालिका के साथ पत्नी का व्यवहार कर विषय भोग में आनन्द मान रहे हैं। जहां तीन वर्ष न हुए अर्थात् लड़की की (पत्नी की) १६ वर्ष की उमर हुई, और वह तो तीन बच्चों की माता बन गई। यहां पत्नी १६ वर्ष में तो बुड्ढी जैसी मालूम पड़ने लगी ? एक प्रसूति में स्त्री की आधी शक्ति हीन हो जाती है, उस तरफ विषयी पुरुषों का लक्ष नहीं है। वे तो अपनी स्त्री को भोग का एक साधन बनाकर अंधे बने रहते हैं। सुखी होने का एक ही मार्ग है कि अपनी लड़कियों की १७-१८ वर्ष से पहले शादी न करे। और आप स्वयं औषधि के रूप में विषय सेवन करे। भावना यह रखना चाहिये कि यह वासना भी कब और कैसे मिटे। अपने घर अपनी पुत्री और पुत्र

की शादी हो जावे तब से आजीवन ब्रह्मचर्य से जीवन बिताना चाहिए। यही गृहस्थावस्था के सुख का मार्ग है। आप भी धर्मात्मा बनें और अपनी संतान को धर्मात्मा बनाने की चेष्टा करें। पीछे देखो कि आपका पुत्र आपका पैर चाटता है कि नहीं। पुत्र से सेवा कराना चाहते हो तो पहले आप धर्मात्मा बनिए। आपको तो रावण बन कर रहना है और पुत्र रामचन्द्र जैसा चाहते हैं। यह कल्पना गधे के सींग जैसी ही है। आप दशरथ बनिये आपका पुत्र रामचन्द्र स्वयं बन जावेगा। परन्तु यह सब बने कब ? आत्मा शास्त्राभ्यास कर अपने स्वरूप का ज्ञान करे। तब शास्त्र-स्वाध्याय का नियम रखो। इसमें आपका खाना पीना क्या छूट जाता है ? आप में शक्ति होवे तो त्याग करो, परन्तु कम से कम १५ मिनिट शास्त्र स्वाध्याय तो करते रहो। ज्ञान अर्जन कीजिए पीछे त्याग तो आप से आप आपके पीछे आपकी छाया की तरह दौड़ा आवेगा। स्वाध्याय की ओर रुचि नहीं है यही आत्मा का अपराध मात्र ज्ञान से ही छूट सकता है।

अपनी लड़की की १७-१८ वर्ष के बाद ही शादी करनी चाहिये। इससे पहले शादी कर देना यह तो लड़की का खून करने के बराबर है। अपनी लड़की को

तंदुरुस्त और सुखी देखना चाहते हो तो उसकी छोटी उमर में शादी कभी भी नहीं कर देनी चाहिये ?

शंका—रजस्वला हुए बाद लड़की को घर में रखना या बालकुमारी रखना यह महा पाप है। ऐसा शास्त्र में कहा है ?

समाधान—यह तो शास्त्र में बात लिखी नहीं है। आप की स्वयं की बनाई हुई कल्पना है। लड़की अब्रह्म का सेवन करे यह पाप है कि ब्रह्मचर्य का पालन करे यह पाप है। विचारो तो जरा। आगे के जमाने की लड़की बड़ी २ उम्र की हुए बाद ही स्वयंवर मंडप में वरमाला डाल कर अपनी शादी करती थी। वे लड़कियाँ कितने वर्ष की होंगी ? विचारना चाहिये। देखो कैकेयी ने राजा दशरथ का लड़ाई में सारथी का कार्य किया। सीता सुलोचना आदि महान सतियों का दृष्टांत देखो। कितनी विवेकशील हुए बाद ही उन्होंने शादी की थी। रजस्वला होना वह आत्मा के हाथ की बात नहीं है। रजस्वला होना पाप नहीं है, परन्तु अब्रह्मका सेवन करना पाप है। रजस्वला तो अर्जिका भी होती है। तो क्या वह पापिनी है कि धर्मात्मा जीव है ? रजस्वला होना वह तो कर्म के आधीन है। अब्रह्मका सेवन करना कि ब्रह्मचर्य का पालन करना वही आत्मा के हाथ की बात

है। आप भी ब्रह्मचर्य की रक्षा करो और अपना बच्चा भी ब्रह्मचारी बने—यही भावना कार्यकारी है। जिसमें अखंड ब्रह्मचर्य पालन करने की शक्ति न हो वह जीव एक पति और एक स्त्री में संतोष करे, इस भावना से गृहस्थाश्रम की उत्पत्ति होती है। परन्तु स्वदारा में आसक्त बन जाना वह उचित मार्ग नहीं है। स्वदारा में संतोष करना इस का यह अर्थ नहीं है कि निरर्गल विषय सेवन करना। विषय सेवन करते हुए भी भाव विषय छोड़ने का ही रखना चाहिये। भावना यह होनी चाहिए कि हे आत्मा विषय सेवन में क्या आनंद है, वह तो देख लिया। अब यह भावना छोड़कर ब्रह्मचारी कब बन जाऊँ इस भावना के सेवन से आत्मा एक दिन मैथुन संज्ञा से बच जावेगा और धर्म के मार्ग पर आत्मा आरूढ़ हो जावेगा। यही धर्मात्मा जीवों का क्रम है।

जिस प्रकार चार संज्ञा पाप का ही भाव है उसी प्रकार तीन अशुभ लेश्या अर्थात् कृष्ण लेश्या, नील लेश्या एवं कापोत लेश्या भी पाप का ही भाव है। पांच इन्द्रिय का विषय भोगने का भाव तथा इकट्ठा करने का भाव पाप का ही भाव है। आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान का भाव पाप का ही भाव है। हिंसा का उपकरण बनवाना पाप का ही भाव है। मिथ्यात्व का भाव

पाप का ही भाव है। सब से बड़ा पाप मिथ्यात्व का ही है जिसको जीव पिछानता भी नहीं है। लाखों मनुष्यों की हिंसा में जितना पाप नहीं है इससे विशेष पाप एक मिथ्यात्व भाव में है। अतः सर्व प्रथम मिथ्यात्व भाव छोड़ने का पुरुषार्थ करना चाहिये। परन्तु समाज के त्यागियों का इस ओर लक्ष ही नहीं है और क्रियाकांड में धर्म मानकर और धर्म को डुबा दिया। धर्म को डुबा दिया यह कहना व्यवहार है परन्तु निश्चय में अपनी ही आत्मा को डुबा दिया यह सत्यार्थ है। कषाय का भाव पाप का ही भाव है। परन्तु कषाय छोड़ने का उपदेश देने वाले जीव भी संसार में बहुत कम हैं। जहाँ देखो वहाँ पर पदार्थ छोड़ने का उपदेश है। विषय छोड़ दिया तो क्या हुआ, कषाय तो छूटा नहीं है। साँप ने कांचली छोड़ दी परन्तु विष छुटा नहीं तो क्या हुआ? क्रियाकाण्डी जीव विषय ही छोड़ने का उपदेश देता है। तब ज्ञानी जीव रागद्वेष छोड़ने का उपदेश देता है इन दोनों में महान अन्तर है। क्रियाकाण्डी जबरदस्ती से त्याग कराता है तब ज्ञानी मात्र ज्ञान कराता है। ज्ञान आने से त्याग तो स्वयं आजाता है। त्याग ज्ञानपूर्वक ही होना चाहिये। जिसने ज्ञान-पूर्वक रागादिक का त्याग किया वही जीव सच्चा धर्मात्मा है एवं सच्चे सुख को प्राप्त कर सकता है।

अज्ञान दशा में तो जीव ने अनंत दफे त्याग किया, घर छोड़ा, राज छोड़ा, जंगल बसाया, नग्न दिगम्बर मुनि भी बना, परन्तु ज्ञान बिना वह सब पानी बिलोवना तुल्य हुआ। इसलिये यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति करना यही सच्चे सुख को पाने का मार्ग है। लाखों वर्ष तक तप किया परन्तु तप से मिथ्यात्व का नाश नहीं होता है, देखिये विशल्या का जीव। परन्तु मिथ्यात्व नाश तो मात्र ज्ञान से ही होता है। ज्ञान बिना मिथ्यात्व का नाश कभी हो ही नहीं सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि प्रथम आगम द्वारा ज्ञान अर्जन करो, ज्ञान से तत्त्व का निर्णय करो और तत्त्व के निर्णय हुए बाद ही संयम भाव से सच्चा सुख मिल सकता है। कहा भी है कि आगम ज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयम भाव मोक्ष का कारण है और आगम ज्ञान-शून्य मुनि भी बन जावे तो भी वह स्वयं डूबता है और दूसरे जीवों को डुबाने में निमित्त बन जाता है।

प्रायोग्य लब्धि—जब आत्मा में देशना-लब्धि प्राप्त होती है अर्थात् पदार्थ का ज्ञान हो जाता है तब उस जीव के प्रथम मांस मदिरा और मद्यादि पदार्थों का सेवन करने का भाव मनुष्य पर्याय में सहज छूट जाता है। इतना तो वह अपने आचरण में सुधार कर ही देता

है। जब तत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया तब वह आत्मा स्वयं पर पदार्थों से उदासीन बन ही जाता है और उसका उपयोग रागद्वेष छोड़ने पर स्वयं आजाता है। जब उसकी धर्म की ओर रुचि होती है तब इस धर्म की रुचि के कारण उसका इतना परिणाम विशुद्ध होता है कि जिस कारण से पूर्व बन्धे हुए कर्मों की स्थिति जो लम्बी थी वह कर्मों की स्थिति आप से आप अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण रह जाती है और नवीन जो कर्मों का बन्ध पड़ता है वह भी अपने विशुद्ध परिणामों के कारण अन्तः कोड़ाकोड़ी के भीतर संख्यातवें भाग मात्र नवीन बन्ध पड़ता है। कितनी ही इन पाप प्रकृतियों का बन्ध मिट जाता है और नवीन जो कर्मों का बन्ध पड़ता है वह कर्म स्थिति और अनुभाग सहित पड़ता है। ऐसा आत्मा के विशुद्ध परिणामों का नाम प्रायोग्य लब्धि है।

यह चार लब्धि रूप परिणाम भव्य और अभव्य दोनों आत्मा में हो सकता है। भव्य और अभव्य आत्मा के गुण नहीं हैं परन्तु वह तो आत्मा में श्रद्धा नाम का गुण है, जिसकी अवस्था है जो सहज अनादिकी बनी हुई है, किसी ने बनाई नहीं है जिस कारण उसी का नाम पारिणामिक भाव कहा जाता है। पारिणामिक भाव उसका नाम है जिसमें कर्म का सद्भाव और अभाव कारण

न हो परन्तु स्वयं आप से आप बना हो। उसका नाम पारिणामिक भाव है। जैसे एक मूंग की फली में बहुत मूंग के दाने हैं। उनमें एक ही दाना कोरड़ू हो जाता है। उस दाने को कोरड़ू किसने बनाया? सहज आप से आप बन गया है। कोरड़ू और कोई चीज नहीं है उस मूंग में जो स्पर्श नाम का गुण है, उस गुण की एक विशिष्ट प्रकार की कठोर अवस्था है। उसी प्रकार अभव्य भी श्रद्धा गुण की एक विशिष्ट प्रकार की अवस्था है कि जिसके आत्मानुभूति कभी भी नहीं होती है।

बहुत जीव ऐसा कहते हैं कि भव्य और अभव्य आत्मा का गुण है क्योंकि गुण का नाम पारिणामिक भाव है, परन्तु उनका यह कहना गलत है। गुण तो सब आत्माओं में समान हैं। इसीलिये तो कहा जाता है कि गुण की अपेक्षा सबकी आत्मा सिद्ध परमात्मा जैसी है।

चारों लब्धि रूप परिणाम होने के बाद सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो भी सकती है और कभी न भी होवे, खास नियम नहीं है। परन्तु चार लब्धि बिना कभी भी नहीं हो सकती है यह नियम है। इसलिये सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाले जीवों को यह चार लब्धि रूप भाव प्राप्त करना आवश्यक ही है।

प्रायोग्य लब्धि रूप भाव में जीव अपने को धर्मात्मा

मान लेता है। लोक भी उसी को भक्त, धर्मात्मा आदि नामों से सम्बोधन करते हैं जिससे जीव अपने को कृत कृत्य मान बैठता है। क्योंकि पुण्य भाव महा ठगारा है वही भाव जीव को धर्मात्मा मानने में ठग जाता है। इससे जीव करणलब्धिरूप भाव में आगे बढ़ता नहीं है। जिससे इतना पुरुषार्थ करते हुए भी मिथ्यादृष्टि का मिथ्यादृष्टि रह जाता है। इससे ऐसा ठगारे पुण्य भाव से सावधान रहना यही आगे बढ़ने का मार्ग है।

करणलब्धि—करण लब्धि रूप आत्मा का परिणाम बहुत ही सूक्ष्म भाव है। यथार्थ में इस भाव का बचन से प्रतिपादन करना अशक्य है परन्तु इस भाव से कर्मों में क्या अवस्था हो जाती है इसी पर से भाव का अनुमान आ सकता है। करण लब्धि रूप भाव ध्यान अवस्था में ही होता है। करण लब्धि रूप भाव होता है तब आत्मा नियम से सम्यग्दर्शन प्राप्ति करेगा ही। इस भाव में आत्मा गिर जावे ऐसा बनता ही नहीं है। यह भाव ऐसा भाव है कि आत्मा अपने ध्येय को पाजाता है। यह तो इस भाव की विशेषता है। जिस जीव को मिथ्यात्व भाव का अभाव होने में अन्तर्मुहूर्त काल बाकी रहता है तब ही उसी जीव को करण लब्धि भाव होता है। यह निमित्त की अपेक्षा से कथन किया जाता है। जिस जीव

को करण लब्धि रूप भाव की प्राप्ति करना है उसी को बुद्धि पूर्वक इतना ही पुरुषार्थ करना चाहिये कि तत्त्व-विचार में अपने उपयोग को लगावे। मात्र नाम निक्षेप से आगम का शब्द बोल जाना, इसी का नाम तत्त्व निर्णय नहीं है, परन्तु जीव तत्व किस का नाम है यह जानने के लिए पुरुषार्थ करे। अजीव तत्त्व को अजीव तत्त्व रूप श्रद्धान करे परन्तु आत्मा की अजीव तत्त्व रूप अवस्था ही नहीं है ऐसा नहीं है। पुण्य तत्व को पुण्य तत्व रूप माने, पुण्य भाव को पुण्य भाव माने, परन्तु पाप भाव को पुण्य भाव मानना अर्थात् शुद्ध आहार खाने का भाव पाप भाव है उसी को पुण्य भाव मानना अथवा उपवास का भाव पुण्य भाव है उसी को पुण्य रूप न मान कर संवर निर्जरा भाव माने यह तत्व निर्णय नहीं है। यह तो आत्मा का बुद्धि पूर्वक अपराध है। यह तो अतत्व श्रद्धान भाव है। आश्रव भाव को आश्रव भाव जाने परन्तु आश्रव भाव को जाने नहीं और मुख से पाठ बोला करे कि आश्रव सत्तावन है यह तो अतत्व भाव है। सत्तावन आश्रव में आत्मा का आश्रव कितना है यह प्रश्न पूछे कि तुरन्त जवाब देवेगा कि महाराज यह बात शास्त्र में लिखी नहीं है या मैं नहीं जानता, तो भाई तैंने आश्रव तत्व को क्या जाना। इसी प्रकार बन्ध भाव को बन्ध का भाव

मानना चाहिये, परन्तु अरहन्त भक्ति को अच्छा भाव माने और तीर्थंकर प्रकृति का मुझे कब बन्ध हो इसी की भावना करे—भक्ति करे तो बन्ध तत्त्व का ज्ञान क्या किया ? बन्ध की भावना करनी चाहिये कि बन्ध से छूटने की भावना करनी चाहिए ? तीर्थंकर प्रकृति का भाव तो बन्धन का भाव है। उसकी भावना करना अर्थात् बन्धन की भावना करना मिथ्यादृष्टिपना है। भावना तो बन्धन से छूटने की करनी चाहिए। अतः ऐसे जीव को बन्ध तत्व का भी यथार्थ ज्ञान नहीं है। संवर तत्व में पंच महाव्रत, पांच समिति, तीन व्यवहार गुप्ति को संवर मानता है। उसने संवर भाव का ज्ञान क्या प्राप्त किया ? तेरह प्रकार के चारित्र, दश प्रकार के मुनि धर्म, बाईस प्रकार के परिषहजन्य भाव को तथा बारह प्रकार की भावना के भाव को यदि वह संवर मानता है तो वह अज्ञानी जीव है। उसने इन सभी पुण्य भाव को संवर माना तो संवर तत्त्व का ज्ञान कहाँ किया ? संवर को संवर जानना—मानना चाहिये और निर्जरा भाव को निर्जरा जानना मानना चाहिये। परन्तु बारह प्रकार के तप के भाव को निर्जरा माने तो इस को निर्जरा तत्त्व का ज्ञान नहीं है। बारह प्रकार के तप का भाव तो पुण्य भाव है। पुण्य भाव को निर्जरा भाव मानना अज्ञान भाव

है। इससे सिद्ध हुआ कि मात्र नाम निक्षेप से तत्त्व को जानना यथार्थ नहीं है। आत्मा के परिणामों को यथार्थ जानना उसका नाम बुद्धि पूर्वक तत्त्व निर्णय है। तत्त्व निर्णय करने में आत्मा का उपयोग लगता है जिससे आत्मा का परिणाम समय २ में निर्मल होता जाता है। उन निर्मल परिणामों से मिथ्यात्व कर्म की स्थिति तथा अनुभाग हीन २ होता जाता है।

करण लब्धि के तीन भेद हैं। (१) अधःकरण (२) अपूर्वकरण (३) अनिवृत्तिकरण। ये तीन प्रकार का करण आत्मा का भाव ही है। जिसमें पहले २ समय के परिणाम समान हो, उस भाव का नाम अधःकरण है। जैसे किसी जीव का परिणाम उस करण के पहले समय में स्तोक विशुद्धता लिये हो और आगे २ समय में विशुद्धता लिये बढ़े। द्वितीय समय में तृतीय समय में परिणाम हो वैसा परिणाम कोई अन्य जीव को प्रथम समय में भी हो। उसके उन परिणामों से समय २ पर अनन्त विशुद्धता लिये बढ़े। ऐसे परिणामों का नाम अधः करण परिणाम हैं। जिसके पहले पिछले समय के परिणाम समान न हो, अपूर्व २ ही हों, अर्थात् पूर्व में जो परिणाम हुये हों उनमें विशेष निर्मल परिणाम हो। उस परिणाम का नाम अपूर्व करण है। अपूर्व करण में भी सब जीवों के

परिणाम समान और असमान होते हैं, ऐसा कोई खास नियम नहीं है। और जिसमें समान समयवर्ती जीवों के परिणाम समान ही हो ऐसे समान हो परिणाम वाले जीवों के परिणाम समय २ में अनन्त गुणी विशुद्धता लिये हो। उन विशुद्ध परिणामों का नाम अनिवृत्ति करण परिणाम है।

पहले अन्तमुर्हूर्त्त काल पर्यंत अधःकरण परिणाम होता है, उनमें चार विशेषताएँ होती हैं। समय २ में अनन्त गुणी परिणामों में विशुद्धता हो, अन्तमुर्हूर्त्त कर नवीन बन्ध की स्थिति घटती हो, जिसको शास्त्रीय भाषा में स्थिति बंधापसरण कहा जाता है। और समय २ प्रशस्त प्रकृति का अनन्तगुण अनुभाग बढ़े और समय २ अप्रशस्त प्रकृति का अनुभाग बन्ध अनन्तवें भाग हीन हो। इस प्रकार परिणाम द्वारा चार कार्य होते हैं। अधःकरण का जो काल है इससे संख्यातवें भाग अपूर्व करण का काल है। अपूर्वकरण परिणाम में अन्तमुर्हूर्त्त कर सत्त्वभूत कर्म की जो स्थिति थी उस स्थिति को घटा देता है। उसको शास्त्रीय भाषा में स्थितिकान्डक घात कहते हैं, और उस परिणाम द्वारा पूर्व का जो अनुभाग था, उसको भी घटाता है जिसको शास्त्रीय भाषा में अनुभागकान्डकघात कहते हैं। गुणश्रेणी के काल में

क्रम से असंख्यात गुणा प्रमाण लिये कर्म को निर्जरा-योग्य करता है उसको शास्त्रीय भाषा में गुण श्रेणी निर्जरा कहते हैं । अपूर्वकरण के परिणाम के बाद अनिवृत्ति रूप परिणाम होते हैं । अनिवृत्ति परिणाम का काल अपूर्व करण के काल से भी संख्यातवें भाग है । अनिवृत्तिकरण काल के पीछे उदय आने योग्य मिथ्यात्त्व कर्म के निषेकों का उदय नहीं होने से उस समय में उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, और उसी समय में मिथ्यात्त्व कर्म की प्रकृति के तीन टुकड़े हो जाते हैं । (१) मिथ्यात्व (२) मिश्रमोहनीय (३) सम्यक्त्वमोहनीय । ये तीनों करण के भाव ध्यानावस्था में ही होते हैं । इस तरह के आत्मा के परिणामों से सम्यग्दर्शन रूप परिणाम की प्राप्ति होती है ।

इतना विशेष है कि अनादि मिथ्यादृष्टि के तो एक मिथ्यात्व प्रकृति का ही उपशम होता है क्योंकि उसके मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय कर्म की सत्ता नहीं है । जब जीव उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त हो तब सम्यक्त्व के काल विषै मिथ्यात्व कर्म के परमाणु को मिश्र मोहनीय रूप और सम्यक्त्व मोहनीय रूप परिणमाता है तब तीन कर्म की प्रकृति रूप सत्ता हो जाती है ।

इसलिए अनादि मिथ्यादृष्टि के मात्र एक मिथ्यात्व कर्म की प्रकृति की सत्ता है उसको ही उपशम करता है।

किसी २ सादि मिथ्यादृष्टि जीव के तीन कर्म की प्रकृति की सत्ता रहती है। और किसी किसी को मात्र मिथ्यात्व कर्म की प्रकृति की सत्ता रहती है। जिस जीव ने मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय की उद्वे-लना कर उन दो कर्मों की प्रकृति के परमाणुओं को मिथ्यात्व रूप परिणमा दिया है उस जीव को मात्र एक मिथ्यात्व कर्म की सत्ता है।

उपशम सम्यक्त्व वर्तमान काल विषै क्षायक सम्य-ग्दर्शन की तरह निर्मल है, परन्तु उपशम सम्यक्त्व में प्रतिपक्षी कर्म को सत्ता है इसलिये अन्तर्मुहूर्त काल तक यह उपशम सम्यक्त्व की अवस्था रहती है, बाद में सम्यक्त्व मोहनीय कर्म का उदय आजावे तो क्षयोपशम सम्यक्त्व रूप अवस्था आत्मा की हो जाती है और मिश्र मोहनीय कर्म की प्रकृति का उदय आजावे तो मिश्र रूप अवस्था जीव की हो जाती है और मिथ्यात्व कर्म प्रकृति का उदय आवे तो मिथ्यात्व रूप आत्मा की अवस्था हो जाती है।

जब सम्यक्त्व मोहनीय कर्म प्रकृति का उदय आता है तब क्षयोपशम रूप सम्यग्दशन की अवस्था रहती है।

उस सम्यग्दर्शन में शूक्ष्म समल तत्वार्थ श्रद्धान रहता है जो केवलज्ञान गम्य है। सम्यक्त्व मोहनीय कर्म की प्रकृति देशघाती है, इसलिये सम्यग्दर्शन का घात नहीं हो जाता है, परन्तु किंचित् मलीनता उत्पन्न आत्मा में हो जाती है। मूलघात नहीं करता इसलिये इसका नाम देशघाती है। मिथ्यात्व तथा मिश्र मोहनीय कर्म की प्रकृति की वर्तमान काल में उदय आए बिना ही उसकी निर्जरा हो जाती है। इसका नाम क्षय है, और यह दोनों कर्म प्रकृतियों की आगामो काल में उदय आने योग्य निषेक की सत्ता है। उसी नाम का उपशम है, और सम्यक्त्व मोहनीय कर्म प्रकृति का उदय होना ही क्षयोपशम है।

मिथ्यात्व कर्म की प्रकृति, मिश्र मोहनीय कर्म की प्रकृति तथा सम्यक्त्व मोहनीय कर्म की प्रकृति के सर्व निषेकों का सत्ता में से नाश हो जाता है तब परम निर्मल क्षायक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति जीव में हो जाती है। क्षायक सम्यग्दर्शन में प्रतिपक्षी कर्म का अत्यन्त अभाव हो जाता हैं इसलिये परम निर्मल है और अनन्त काल तक यह सम्यग्दशन रहता हैं। चायक सम्यग्दर्शन की जब से प्राप्ति होती है तब से लेकर अनन्त काल तक समान ही अवस्था रहती है।

जिस आत्मा में क्षायक सम्यग्दर्शन रूप निर्मल परिणति हो चुकी वह नियम से मोक्षमार्गी हो चुका। इसलिये कहा है कि क्षायक सम्यग्दृष्टि-आत्मा भगवान का लघु नंदन बन गया। ऐसा लघु नंदन बनने में प्रधान कारण आगम द्वारा तत्व का निर्णय करना ही है। ऐसे परमागम बनाने में प्रधान कारण परम वीतराग सर्वज्ञ देव शासनकर्त्ता भगवान महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि है। क्योंकि उस दिव्य-ध्वनि द्वारा ही आचार्य प्रवर गणधर देव श्री गौतम स्वामी ने सूत्र रूप आगम की रचना की। उनका परम २ उपकार है, परन्तु काल दोष से उस आगम का लोप हो गया तो भी परम्परा ज्ञान के धारक आचार्य वर्ग की आत्मा में ऐसी परम करुणा हुई कि संसार के आत्मा का कल्याण कैसे हो इस विकल्प के साथ योग के अनुकूल आगम की रचना हो गई। ऐसे परम कल्याण कारक आचार्य भगवन्त कुन्द-कुन्द स्वामी, पुष्पदंत स्वामी, भूतबलि स्वामी, वीरसेन स्वामी, अमृतचंद्र स्वामी, समन्तभद्र स्वामी और भट्टारक अकलंक देव आदि आचार्यों का हमारी आत्मा पर महान उपकार है। ऐसे साक्षात् मोक्षमार्ग दिखाने वाले जैन धर्म रूपी आत्मा की निर्मल पर्याय जयवन्त हो! जयवन्त हो!! जयवन्त हो!!!